समझदारों की नासमझी

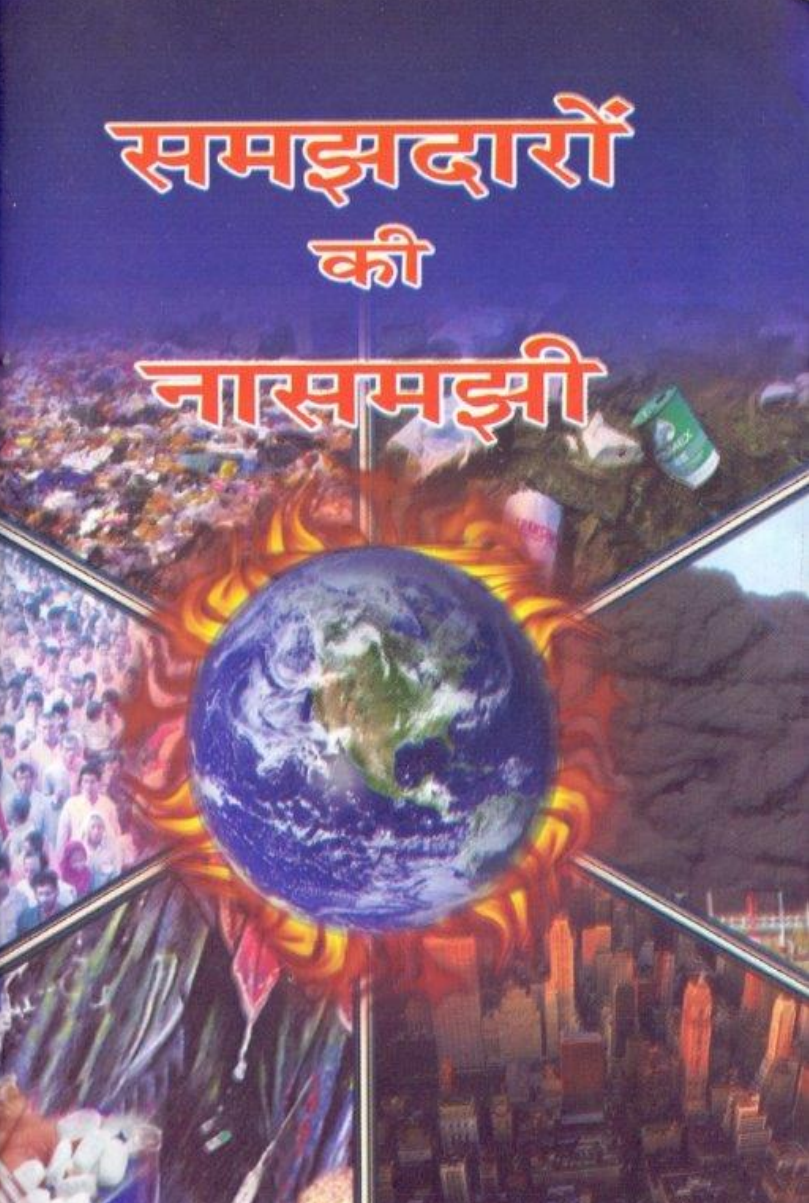

समझदारों की नासमझी

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डा. प्रणव पंड्या (एम. डी.)

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य : १०.०० रुपये

विषयानुक्रम

क्र०	विषय	पृष्ठांक
१.	बुद्धिमान की मूर्खता	३
२.	धन की अनावश्यक संचय और अपव्यय	८
३.	शिक्षा के संदर्भ में उपेक्षा क्यों बरतें ?	१३
४.	नाव में वजन बढ़ाते चलने की मूर्खता	१८
५.	संपन्नता नहीं महानता	२३
६.	नारी भार बनकर न रहे	२९
७.	विभेद और विभाजन की दु:खद दीवारें	३४
८.	भाग्यवाद और ग्रहगोचर	३९
९.	विभेद और बिलगाव देर तक नहीं टिकेंगे	४५
१०.	समझदार इतना तो समझें ही	५०

बुद्धिमान की मूर्खता

मनुष्य की प्रधान विशेषता उसकी विचारशीलता है । इसी आधार पर उसकी विचारणा, कल्पना, विवेचना, धारणा का विकास होता है । अन्य प्राणियों की विचार परिधि पेट प्रजनन, आत्मरक्षा जैसे प्रयोजनों तक सीमित रहती है । वे इसके आगे बढ़कर विश्व व्यवस्था, निजी जीवनचर्या, भावी संभावना आदि के संबंध में कुछ सोच नहीं पाते, अधिक सुविधा पाने और प्रतिस्पर्द्धा का आक्रमण करने जैसा आवेश भी यदाकदा उभरते रहते हैं । ज्यों–त्यों करके समय बिताते हैं और नियतिक्रम के अनुसार मृत्यु के मुख में चले जाते हैं ।

मनुष्य को भगवान ने ऐसा विकसित मनःसंस्थान दिया है, जिसके सहारे वह बहुत कुछ सोच सकता है । भूतकालीन घटनाओं से अनुभव संपादित करता है, वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भरसक प्रयत्न करता है । भविष्य को अधिक सुखद–समुन्नत बनाने के लिए भी प्रयत्न करता है, नीति, धर्म, समाज आदि के संबंध में मर्यादाओं एवं परंपराओं का भी यथा अवसर पालन करता है । सहयोग उसका विशेष गुण है, उसी आधार पर वह आदान प्रदान के आधार खड़े करता है और सुविधाएं संजोने, प्रगति के आधार खड़े करने के लिए जो कुछ बन पड़ता है सो करता है । इन्हीं मानसिक विशेषताओं के कारण उसमें संकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति, साहसिकता, तत्परता आदि विशेषताओं का अभिवर्धन हुआ है, वह अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक सुविकसित बन सका है ।

इसके साथ ही एक भौतिक दुर्गुण भी है कि समीपवर्ती वातावरण में जो कुछ होता देखता है उसी के अनुसरण का अभ्यासी बन जाता है । जिन लोगों से घिरा रहता है उनकी मान्यताओं को, क्रियाओं को अपने में उतार लेता है, इस अनुकरणप्रियता का दबाव इस सीमा तक आवेश की तरह चलता है कि उसे उचित अनुचित का ध्यान नहीं रहता । अंधानुकरण करने का अभ्यास बन जाता है–यह अंधानुकरण करने के लिए उसकी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है । वह परिपक्व होते होते आदत,

मान्यता आदि का रूप धारण कर लेती है । कई बार तो वह अनुपयुक्त होते हुए भी इतना दुराग्रही हो जाता है कि उसके विपरीत वाले पक्ष को समझने तक की इच्छा नहीं होती वरन् पूर्वाग्रह के आधार पर विरोध चल पड़ता है । आमतौर से विग्रह गलतफहमियों के कारण उठते और खड़े होते हैं । यदि नीर क्षीर विवेक की समझ काम करे तो उन विरोध–विग्रहों में से अधिकांश का समाधान हो जाता है जो आए दिन मनुष्यों के बहुमूल्य समय, श्रम और साधनों को बर्बाद करते रहते हैं ।

निष्कर्ष निर्धारण भी मनुष्य ने कम नहीं निकाले हैं, खोजें भी बहुत की हैं, अविज्ञात को भी विज्ञात में बदला है । इतने पर भी देखा जाता है कि भ्रांतियां कम नहीं हुईं, जिन मान्यताओं को अपनाकर लोग अपना स्वभाव बनाते और आचरण करते हैं उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं जिनके औचित्य पर संदेह किया जा सकता है–समझदारी का दावा करने वालों को नासमझ ठहराया जा सकता है ।

लोगों की मान्यताओं और आदतों का वर्गीकरण–विश्लेषण किया जाए तो उसका प्रतिफल यह सामने आता है कि मनुष्य जितना विचारशील है उसके अधिक अंध विश्वासी है । जितना उसमें ज्ञान है उसकी तुलना में अज्ञान और भी अधिक चढ़ा रहता है । इस दृष्टि से अन्य जीव जंतु कहीं अच्छे हैं जो भले बुरे के, ज्ञान अज्ञान के झंझट में नहीं पड़ते और प्रकृति प्रेरणा के अनुसार अपने जीवन की गाड़ी किसी प्रकार चलाते रहते हैं ।

जनसाधारण में अनेकों मान्यताएं ऐसी पाई जाती हैं जिनके आधार पर उसे विवेकशील कहा ही नहीं जा सकता और साथ ही यह भी गले नहीं उतरता कि इतना बड़ा कारोबार करने वाला, इतनी कक्षाओं तक पढ़ा लिखा व्यक्ति इस कदर अंधमान्यताओं से ग्रसित भी कैसे हो सकता है ?

विचार की दृष्टि से कुछ प्रश्नों को लिया जाए और उनका निरीक्षण परीक्षण किया जाए कि जो मान्यताएं अपनाकर रखी गई हैं वे कहां तक सही हैं ।

अपने आपे का विचार करते समय आम आदमी शरीर को ही 'स्व सर्वस्व' मानता है । उसी के लिए निरंतर विचार और परिश्रम करता है, उसे ही समुन्नत, सुन्दर, यशस्वी, बड़ा आदमी बनाने के लिए समस्त प्रयत्न करता रहता है । पर तत्वतः देखा जाए कि क्या यह जनमान्यता सही है ?

यदि सही रही होती तो मृत्यु के उपरांत आत्मसत्ता कहां चली जाती है ? बचाव के प्रयत्न करते रहने पर भी रुग्णता और वृद्धता क्यों आ धमकती ? किन्हीं किन्हीं में पूर्वजन्मों की स्मृति क्यों देखने को मिलती ? मरणोत्तर जीवन में जो प्रेत–पितरों जैसा अस्तित्व समय समय पर देखने को मिलता रहता है, वह क्यों मिलता है ?

यह सभी बातें बताती हैं कि शरीर और आत्मा की पृथकता है । दोनों घुलमिलकर रहते हैं, पर देखा यह भी जाता है कि वियोग हो जाने पर दोनों का अस्तित्व तिरोहित हो जाता है । इसमें दोनों की पृथकता स्पष्ट है, पर इस वातावरण को कितने लोग स्वीकार करते हैं । यदि यह स्वीकारा गया होता तो शरीर के लिए जितनी इच्छा संजोयी जाती है उतनी ही आत्मा के कल्याण और उत्थान की भी आकांक्षा रही होती ।

लोग अपने बारे में जानते हुए भी इतना तक नहीं मानते कि आत्मा का अवतरण परमात्मा से उसके वरिष्ठ पुत्र के रूप में हुआ है । साथ ही सृष्टि का सर्वोत्तम कलेवर प्रदान करते समय कुछ लक्ष्य भी निर्धारित किया गया है, कुछ उत्तरदायित्व भी सौंपा गया है ताकि अधिक ऊंचा पद प्राप्त करने का अवसर मिल सके । यदि ऐसी समझ मिली होती तो शरीर निर्वाह में ही समूची शक्ति न गंवायी गई होती । आत्मकल्याण के साथ जुड़े हुए दायित्व को भी निभाया गया होता और जीवनक्रम ऐसा बनाया गया होता जिसमें महात्मा बनने जैसा वह अवसर मिला होता जिसमें स्वयं पार उतरना और दूसरों को पार उतारना संभव बन पड़ता, पर देखते हैं कि उत्थान के स्थान पर पतन का ही मार्ग अपनाया जाता है–अंधकारमय बनाने वाला ही मार्ग अपनाया जाता है ।

यदि यह तथ्य ध्यान में बना रहता है कि मनुष्य जन्म के यौवन वाली परिधि ही कुछ महत्वपूर्ण प्रयास कर सकने योग्य है तो लोग उसे दुर्व्यसनों में क्यों खर्च करते ? क्यों न उसकी श्रेष्ठता का उपयोग करके आदर्श जीवन जीते ? क्यों न अभिनंदनीय अनुकरणीय जीवन जीते ? अपने आपे के संबंध में भ्रांत धारणा ही वह कारण है जिससे कुछ विरलों को छोड़कर अधिकांश जनो का जीवन आदर्शों की कसौटी पर खोटा उतरता है–यह भूल समय रहते समझ में नहीं आती, पर जब समय निकल जाता है तब प्रतीत होता है कि अनर्थ जैसे भ्रम जंजाल को अपना लिया गया ।

जीवन के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी हुई एक कुटेब चटोरेपन की है । सृष्टि के सभी प्राणी अपना स्वाभाविक आहार कच्चे रूप में प्राप्त करते हैं, कोई प्राणी अपने भोजन को पकाता, भूनता, तलता, मिर्च–मसाले, शकर आदि के आधार पर चटपटा नहीं बनाता । मनुष्य ने पाक कला सीखी, जायकेदार व्यंजन बनाना और स्वाद के नाम पर अभक्ष्य खाना आरंभ कर दिया । फलतः पाचनतंत्र खराब हुआ, अनेकानेक रोग पीछे पड़े और जीवन अवधि में भारी कटौती हो गई । यदि यह कुटेब न अपनाई गई होती, उपयुक्त शाकाहार पर निर्भर रहा गया होता तो प्रायः आधे आहार से काम चल जाता । पकने में लगने वाला श्रम और धन बर्बाद न होता । पेट ठीक बना रहता, शरीर में शक्ति रहती और लंबा जीवन जीने का अवसर मिलता, पर मनुष्य है जो चटोरा बनकर गुलाम रहने में ही प्रसन्नता अनुभव करता है । व्यंजनों में अपनी रुचि बढ़ाता ही जाता है । फलतः दुर्बलता रुग्णता और अकाल मृत्यु को न्यौत बुलाता है, इस समझदारी को नासमझी न कहा जाए तो और क्या कहें ?

लोग घरों में रहते हैं, पर यह आवश्यक नहीं समझते कि घर की बनावट ऐसी हो जिसमें धूप और हवा का आवागमन पूरी तरह होता रहे । किंतु देखा जाता है कि झोंपड़ी में रहने की अपेक्षा ऐसे पुराने ढर्रे के घर में लोग रहते हैं जिनमें न धूप पहुंचती है और न हवा । फलतः सड़न–शीलन भरे मकानों में जिन्दगी काटते, बच्चे जनते और सामान सरंजाम की गंदगी बढ़ाते रहते हैं । आहार, पानी और हवा की सफाई पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए उतना नहीं दिया जाता–फलतः आरोग्य जैसी संपदा को निरंतर क्षति पहुंचती रहती है ।

यदि मनुष्य ने प्राकृतिक जीवन जिया होता, प्रकृति के सान्निध्य में रहा होता, आहार–विहार में व्यतिक्रम न किया होता, धूप हवा के संपर्क से अपने को बचाकर न रखा होता तो आरोग्य जैसी बहुमूल्य संपदा को गंवा बैठने का त्रास न सहना पड़ता ।

यों रोगों से डर भी लगता है । उसके कारण शारीरिक पीड़ा, काम का हर्ज, चिकित्सा का खर्चीला भार, घर वालों की परिचर्या में व्यस्तता, दूसरों को छूत लगने की संभावना जैसी अनेकों कठिनाइयां सामने आती हैं । आरोग्य स्वाभाविक है और रुग्णता अस्वाभाविक, आरोग्य भगवान का

वरदान है जो सृष्टि के समस्त प्राणियों को अजस्र अनुदान के रूप में मिला है । मात्र मनुष्य ही एक ऐसा अभागा प्राणी है जिसने प्रकृति अनुशासन को तोड़ते हुए अवांछनीय कदम उठाए और रोगों के समुदाय न्यौत बुलाए । कर्म का फल परलोक में मिलता है यह बात अन्य किन्हीं पापों के बारे में तो कही भी जा सकती है किंतु जीवनचर्या में प्रकृति की अवज्ञा ऐसा पाप है कि उसका दण्ड हाथोंहाथ इसी जीवन में निश्चित रूप से भुगतना पड़ता है ।

नशेबाजी एक और प्रकृति विरोधी दुस्साहस है । तंबाकू, भांग, अफीम, शराब आदि सेवन करने के आदी देखते–देखते स्वास्थ्य गंवा बैठते हैं, आर्थिक दृष्टि से खोखले बनते हैं, परिवार का भविष्य अंधकारमय बनाते हैं, बदनामी सहते हैं और अंततः कैंसर जैसे रोगों के शिकार बनते हैं । हर समय बेचैन रहते हैं और स्वजन–संबंधियों के सम्मुख अपराधी की तरह उपेक्षित, तिरस्कृत बनकर रहते हैं ।

यह सब जानते–मानते हुए भी लोग आरोग्य संबंधी प्रकृति नियमों की बुरी तरह उपेक्षा करते रहते हैं, इसे समझदारी कहा जाए या नासमझी ? अन्य प्राणी दैवी आपत्तियों के शिकार तो होते रहते हैं, पर ऐसा कोई काम नहीं करते जिनके कारण उन पर कुमार्ग अपनाने का लांछन आता हो । पर मनुष्य की गतिविधियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें देखते हुए लगता है कि उसने जानबूझकर प्रकृति विरोधी रवैया अपनाया है–ऐसी दशा में उसकी बुद्धिमत्ता पर प्रश्न चिह्न लगता है ।

जीवन का महत्व, स्वरूप, उद्देश्य न समझ पाना और उसे हेय प्रयोजनों में व्यतीत करते रहना भी ऐसा ही प्रयास है जिसके दूरगामी दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं । बहुमूल्य जीवन निरर्थक कामों में व्यतीत हो जाता है, दुष्कर्मों के पाप का पिटारा सिर पर लदता है जिसके कारण लोक और परलोक में पतन और पराभव का दुःसह दण्ड ही भुगतते रहना पड़ता है ।

धन का अनावश्यक संचय और अपव्यय

मनुष्य की बुद्धिमत्ता में संदेह नहीं । वह उपार्जन के क्षेत्र में सबसे अधिक चतुरता दिखाता है । यदि नीतिपूर्वक प्रचुर संपदा नहीं कमा सकता, तो धंधे में बेईमानी का यथामति समावेश करने में भी चूकता नहीं । यह संयोग की बात कि सूझबूझ की कमी या परिस्थितियों की प्रतिकूलता से इच्छित स्तर की सफलता न मिले, फिर भी वह हार नहीं मानता । एक नहीं अनेक प्रयत्न करता रहता है । दाँव न लगे तो बात दूसरी है, अन्यथा नीति–अनीति का कोई ऐसा मार्ग छोड़ता नहीं, जिसके आधार पर कम समय में अधिक धनाढ्य बन सकना संभव हो सके ।

उपार्जन का उपयोग कहां किया जाए ? किसलिए किया जाए ? किस प्रकार किया जाए ? इस संबंध में भी उसका निश्चय ऐसा नहीं होता जिसे निभ्रांत या उपयोगी कहा जाए । अनीति द्वारा किया गया उपार्जन और अविवेकपूर्वक किया गया अपव्यय दोनों ही एक से एक बढ़कर खतरनाक होते हैं । ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न करते हैं, जिनके लिए पीछे पश्चात्ताप ही करते रहना पड़े ।

इस सबका कारण है धन को अत्यधिक महत्व देना । उसी को सुख संतोष का एक मात्र कारण मानना । जीवन की सफलता और प्रगति की संभावना का उसी को आधार मान बैठना ऐसी भ्रांति है, जिसके कारण बहुमूल्य जीवन का समूचा ज्ञान और कर्म पूरी तरह नियोजित कर दिया जाता है । इस एक ही दिशा में इतनी अधिक विचारणा और क्रियाशीलता जुड़ जाती है कि अन्यान्य महत्वपूर्ण प्रयोजनों में से और किसी के लिए कुछ न सोचते बन पड़ता है और न करते–धरते । फलतः जीवन विकास की अन्य सभी दिशा धाराएं उपेक्षित स्थिति में पड़ी रहती हैं, एकाकीपन छा जाता है । एक पक्ष भी उतना सफल नहीं हो पाता, जितनी इच्छा थी । कारण कि धन उपार्जन की सीमा है । अतएव पग–पग पर स्पर्द्धा बनी रहती है । सभी अपनी अपनी ओर खींचतान करते हैं । इसे संयोग ही कहना चाहिए कि किसी के हाथ कुछ जमा पूंजी जैसा वैभव लग जाता है

और किसी को मन मसोसकर रहना पड़ता है । यदि योग्यता का मूलधन रहा होता तो भी एक बात थी । अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए लोग प्रयत्न करते और अधिक उपार्जन में सफल होते, पर आज की प्रचलित अर्थ व्यवस्था में तो चतुरता ही सब कुछ है । इसके बाद दाँव लगने का संयोग अपना चमत्कार दिखाता है । ऐसी दशा में यह भी हो सकता है कि कोई परिश्रमी, पुरुषार्थी भी खाली हाथ रहे । उसे स्वल्प में ही संतोष करना पड़े ।

गहराई में उतर कर यह देखा जाना चाहिए कि क्या वस्तुतः धन की उतनी आवश्यकता है जिसके कारण जीवन की अन्य महत्वपूर्ण दिशाओं को उपेक्षित ही पड़ा रहने दिया जाए । वैभव के अतिरिक्त और कुछ सोचते ही न बन पड़े । तथ्यों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि शरीर निर्वाह के लिए परिवार पोषण के लिए एक सीमित मात्रा में ही धन की आवश्यकता है । वह कार्य थोड़े में ही पूरा हो सकता है । मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकताएं बहुत सीमित हैं । थोड़े से अन्न में पेट भर जाता है, तन ढकने का परिधान भी उतना मंहगा नहीं है । परिवार के सदस्यों को यथा सामर्थ्य कुछ करने, कमाते रहने के योग्य बनाया जाए । सादगी से रहने के लिए अभ्यस्त किया जाए । खर्चों को घटाने में समझदारी अनुभव करने की सीख दी जाए तो उस परिवार की ऐसी व्यवस्था बन सकती है कि गाड़ी सरलतापूर्वक पटरी पर चलने लगे ।

बाद के लिए जमा करने की बात सोचना भी ऐसा है जैसे आकाश को बांधना । मनुष्य जबकि शरीर अथवा बुद्धिबल से सदा कमाता रह सकता है । जिनकी सेवा सहायता जवानी में की है, उनसे बुढ़ापे में उस ऋण को वापस लेने की मान्यता यदि पहले से ही बना रखी जाए तो किसी को भी बुढ़ापे में असहाय होने की स्थिति का सामना न करना पड़े । समस्या तब उत्पन्न होती है जब बुढ़ापे के लिए पहले से तैयारी नहीं की जाती । परावलंबन का भूत सिर पर सवार हो जाता है । शरीर ढीला पड़ने पर उपार्जन की क्षमता का अंत हुआ ऐसा सोच लिया जाता है, तब यह सूझता है कि बुढ़ापे के लिए बैठे बैठे खाने के लिए बहुत साधन जमा कर लिया जाए । इसी प्रकार यह भी एक बड़ी चूक है कि

उत्तराधिकारियों को यह ललक जमा दी जाए कि उनकी संपदा पर युवा होते होते कब्जा कर लिया जाए । उन्हें परावलंबी रहने के लिए विवश किया जाए । वस्तुतः जिन्होंने बचपन या यौवन के आरंभिक दिनों में अभिभावकों से जितनी सहायता प्राप्त की है, उसे उन्हें ब्याज सहित वापस लौटाना चाहिए । बालकों के भरण–पोषण की तरह वृद्धजनों की सुविधा एवं प्रतिष्ठा का भी समुचित ध्यान रखना चाहिए । यह चेतना दोनों पक्षों में आरंभ से ही जगाई जाती है । पूर्वजों की कमाई पर उत्तराधिकारी हावी बने यह मान्यता अनैतिक है । दोनों ही पक्ष इस अनैतिक मान्यता को ही अपनाए रहते हैं । फलतः उत्तराधिकारी अपने अभिभावकों से अधिकाधिक छीन–झपट का ताना बाना बुनते रहते हैं । दुर्बल पड़ने पर वृद्धजन संतान के हाथों ही अपना सब कुछ गंवा बैठते हैं । यह दुःखद परिस्थिति इसीलिए आती है कि बुढ़ापे के लिए अनावश्यक संग्रह किया गया और उसे छत्ते के शहद की तरह जिनके हाथ लगा उनने लूट लिया । यह परिस्थिति आने ही क्यों दी जाए ? उतना ही क्यों न कमाया जाए, जितना कि नियमित निर्वाह के लिए आवश्यक है । उत्तराधिकारियों को पहले से ही बता दिया जाए कि उन्हें स्वावलंबी बनने से पूर्व जितनी भी सहायता दी गई है वह एक प्रकार का ऋण है । उसे अभिभावकों को वृद्धावस्था में वापस करना उनका नैतिक कर्तव्य है । यदि यह मान्यता भली प्रकार समझी और समझाई जा सके तो कोई कारण नहीं कि वृद्धावस्था के भय से उत्तराधिकारियों को धन कुबेर बनाने को जीवन भर धन के लिए खटते रहने की आवश्यकता पड़े ।

प्रकृति उतना ही धन वैभव उत्पन्न करती है, जिसमें धरती पर रहने वाले सभी प्राणी अपना जीवनयापन सुविधापूर्वक कर सकें । यदि कुछ व्यक्ति अधिक धनी बनने की चेष्टा करते हैं, तो इसका सीधा परिणाम यह होगा कि दूसरों का हक, हिस्सा कटने लगेगा । ऊंची दीवार उठाने के लिए किसी दूसरी जगह गड्ढा बनाना पड़ता है । कुछ अमीर बनना चाहें तो यह तभी संभव हो सकेगा जब अन्य अनेकों को अभावग्रस्त गरीबी की स्थिति में रहना पड़े । इस प्रकार की विषमता जब भी, जहां भी उत्पन्न होगी वहां विग्रह खड़ा करेगी । अनावश्यक धन दुर्व्यसनों में, ठाठ बाट में, विलास–व्यभिचार में खर्च होता है फलतः उनके दुष्परिणाम सामने आते

हैं । नशेबाजी, आवारागर्दी, आलस्य, प्रमाद, संपन्नता का प्रदर्शन, निरर्थक अपव्यय ऐसे ही कृत्य हैं, जो अनावश्यक धन जमा करने वाले के पीछे पड़ते हैं । यह दुर्व्यसन अधिक धन की मांग करते हैं और एक व्यक्तित्व को गिराने का दुश्चक्र चल दौड़ता है।

एक अमीरी भोगे और दूसरा गरीबी में तड़फे, इस विषमता का सीधा परिणाम ईर्ष्या के रूप में सामने आता है । चोरी, डकैती और कुकृत्य भी प्रायः इसी आधार पर बढ़ते देखे जाते हैं । बड़ों की नकल करने की छोटों में ललक उपजती है, वे भी वैसी ही अमीरी के लिए लालायित होते हैं और तरीका बन नहीं पड़ता तो गलत मार्ग अपनाते हैं । अनेकों विकृतियाँ प्रायः इसीलिए पनपती हैं कि बुराइयों का वातावरण बनने पर सामान्य लोग भी उसी प्रवाह में बहने लगते हैं । धन का अनावश्यक संग्रह एक प्रकार से समाज में अनेक दुष्प्रवृत्तियों का, अवांछनीयताओं का सृजन करता है ।

सीमित साधनों में निर्वाह करने की आदत मनुष्य को वह लाभ प्रदान करती है जो सादगी अपनाने वाले सज्जनो को मिलता रहता है । समता ही एकता बनाए रहने में समर्थ है । एकता में मिलजुलकर रहने की, मिल–बांटकर खाने की प्रवृत्ति पनपती है । उसी आधार पर हंसते–हंसाते, प्रसन्न एवं संतुष्ट जीवन जी सकना संभव होता है । परिवार में, मित्र संबंधियों में सद्भाव बनाए रखना उन्हें उनका चिंतन और चरित्र मानवी गरिमा के ढांचे में ढला रखना हो तो उसका प्रधान उपाय यही है कि आर्थिक पवित्रता बनाए रखने के लिए अपना आदर्श प्रस्तुत किया जाए और परिवार में आदर्शवादी वातावरण बनाए रखा जाए । इसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता आर्थिक शुचिता की है ।

सीमित साधनों में काम चलाने वाले औसत नागरिक स्तर की व्यय–व्यवस्था बनाने का यदि उपक्रम बना लिया जाए तो समझना चाहिए कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी प्रगति कर सकने का आधार बन गया । सद्ज्ञान का संवर्धन अपने आप में एक धन है । ऐसा धन जिसकी तुलना अन्य किसी धन से नहीं हो सकती । इसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिंतन की आवश्यकता पड़ती है । अनुभव संपादन के लिए जन संपर्क भी बनाना पड़ता है, पर इस सबके लिए इच्छा तभी उठती है, समय तभी

मिलता है, जब धन के अतिरिक्त सद्भाव संपादन का भी महत्व समझा जाए । कोई भी व्यक्ति विचारशील, मनीषी, प्रज्ञावान बन सकता है और इतने अधिक विकसित व्यक्तित्व का बन सकता है, जितना की मात्र धन संचय करने पर भी नहीं बन सकता ।

सद्ज्ञान की तरह व्यक्तित्व को विकसित करने की विधा, पुण्य परमार्थ, उदार सेवा और सहयोग है । इससे पिछड़ों को बढ़ाने, उठतों को को उठाने और संकट ग्रस्तों को सहायता देकर पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाने का अवसर मिलता है । इन आधारों को अपनाने पर मनुष्य असाधारण संतोष प्राप्त करता है । यशस्वी बनता और प्रामाणिकता सिद्ध करके सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है । संसार के महापुरुष इसी मार्ग पर चलते हैं । परमार्थ एक प्रकार से उर्वर भूमि में बीज बोने के समान है जो अनेक गुना होकर वापस लौटता है, पर यह उन्हीं से बन पड़ता है जो धन संचय की ललक से छुटकारा पा सकते हैं । उस लिप्सा में निरत व्यक्ति को तो स्वार्थ साधन के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । अन्य कार्यों के लिए भी समय नहीं मिलता ।

शरीर की स्वस्थता, मन का संतुलीकरण, परिवार की सुसंस्कारिता पुण्य परमार्थ का संपादन, समाजगत सुव्यवस्था आदि विषयों पर मनुष्य को आवश्यक ध्यान देना चाहिए और ठीक तरह कार्यान्वित करने के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए, पर यह संभव तभी होता है जब इनके लिए पर्याप्त समय मिले । मन की तन्मयता इन सभी प्रयोजनों के लिए सुनियोजित रहे यह संभव तभी है जब धन के अत्यधिक मात्रा में संग्रह करने की ललक को पूरा करने में शक्तियों को निरंतर लगाए रहने की ललक से छुटकारा मिले । संग्रह यदि सनक बन गया हो तो उस अर्द्धविक्षिप्तता के लिए कोई क्या कर सकता है, पर अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भर का लक्ष्य रहे तो वह कुछ ही घण्टे के श्रम के द्वारा संपन्न हो सकता है और इतना समय बाकी बचा रह सकता है कि जीवन के साथ जुड़ी हुई महत्वपूर्ण समस्याओं का भली प्रकार समाधान हो सके । निर्वाह कठिन नहीं है । कठिन तो लोभ लिप्सा है जिसकी खाई पाटे नहीं पटती ।

यह मान्यता सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि धन से हर चीज खरीदी जा सकती है । सच तो यह है कि सिवाय मनोविनोद की वस्तुओं के, उससे कुछ भी नहीं खरीदा जा सकता । वास्तविक संपदा है–व्यक्तित्व । गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता का समुच्चय । यह यदि अपने पास हो तो सर्व साधारण के सम्मुख अपनी छवि उजागर की जा सकती है । जनमानस का स्नेह, सद्भाव और सहयोग अर्जित किया जा सकता है । यही है वह चुंबक जिसके आकर्षण से प्रामाणिकता, प्रतिभा और प्रखरता का धनी बना जा सकता है, यह धन जिस किसी के पास है वह जीवनोपयोगी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है । साथ ही धन भी इतनी मात्रा में सरलतापूर्वक कमा सकता है जिससे निर्वाह की कोई भी आवश्यकता रुकी न रहे ।

इसे समझदारों की मूर्खता ही कहना चाहिए कि नगण्य महत्व की धन संपदा के पीछे इस प्रकार पड़े रहा जाता है कि समूची शांति–सामर्थ्य उसी निरर्थक कार्य में खप जाती है और सर्वतोमुखी प्रगति से संबंधित सभी कार्य रुके पड़े रहते हैं ।

शिक्षा के संदर्भ में उपेक्षा क्यों बरतें ?

शिक्षा का अर्थ "नौकरी" यही परिभाषा जन जन के मन में समायी हुई है । बच्चे पढ़ाई के दिनों में ही सोचते हैं कि पढ़ने के बाद उन्हें नौकरी करनी है । आम अभिभावक पढ़ाते भी इसीलिए है कि उनका बच्चा पढ़–लिखकर नौकरी करेगा, आजीविका की दृष्टि से निश्चिन्त रहेगा । उद्योग व्यवसाय के झंझट में न पड़ना पड़ेगा, हर महीने नियत समय पर वेतन मिल जाया करेगा और महीने का निर्वाह निश्चिन्ततापूर्वक चल जाएगा ।

इन दिवास्वप्नों में एक बात और भी जुड़ी होती है कि कोई अधिक वेतन वाली आराम की, अफसरों जैसी बढ़िया नौकरी मिलेगी । इसके आधार पर इज्जत भी बढ़ेगी और ऊपर की आमदनी भी अतिरिक्त रूप से होती रहेगी ।

दिवास्वप्न की दृष्टि में यह सब मन बहलाव अच्छा है, पर वास्तविकता के साथ संगति बिठाई जाती है तो प्रतीत होता है कि यह बस शेखचिल्ली जैसा बेतुका मनोरंजन भर था, यथार्थता उसके पीछे नगण्य जितनी थी ।

कोई समय था जब पढ़े लिखों की संख्या नगण्य थी । अंग्रेज़ी सरकार को यहीं के लोगों से काम लेना पड़ता था । इसलिए वे काम की पढ़ाई पढ़ाकर जल्दी जल्दी नौकरी में भर्ती कर लिया करते थे । प्राय: सभी पढ़ों को नौकरी मिल जाती थी, पर अब तो उस स्थिति में जमीन–आसमान जैसा अंतर आ गया है । स्कूलों–कालेजों से हर साल लाखों बच्चे परीक्षाएं पास करके निकलते हैं । इन सभी को नौकरी मिल सकने जितना स्थान कहां से आए ? न तो पुराने लोग इतने रिटायर होते हैं और न नए स्थान ही इतनी संख्या में बनते हैं कि इन सभी नए शिक्षितों को उनमें खपाया जा सके । ऐसी दशा में नौकरी भर की आशा लगाकर बैठे रहने वाले नव शिक्षितों के पल्ले निराशा ही पड़ती है । शिक्षित बेरोजगारों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जाती है । एक जगह खाली होती है तो हजार अर्जियां पहुंचती हैं, इनमें से जगह तो एक को ही मिलनी है । बाकी सब निराश रहते हैं । कई वर्ष इंतजार करते रहने पर जब सरकारी नौकरी वाली आयु निकल जाती है तब प्राइवेट नौकरियों की तलाश में निकलते हैं । बेकारों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा इतनी है कि अच्छा वेतन निजी संस्थानों में मिलना कठिन है, जो मिलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है ।

सबसे बड़ी समस्याएं इन लोगों के सामने मानसिक असंतोष की होती हैं । सरकारी ऊंची नौकरी ही उनका एकमात्र सपना था, जब वह टूट जाता है तो लगता है मानो जमीन पैरों तले से निकल गई । सब ओर अंधकार ही दीखता है, कोई हुनर सीखा नहीं जिससे नौकरी न मिलने की दशा में उसके सहारे अपने स्वावलंबन की समस्या का हल कर लिया जाता । जिन उलझनों का सामना करना पड़ता है उनकी कल्पना इससे पूर्व न तो उनने की थी और न अभिभावकों ने । अचानक जब अवरोध सामने आ खड़ा होता है तो सूझ नहीं पड़ता कि उसका हल किस प्रकार निकालें, जब हल नहीं निकलता तो स्थिति अर्द्धविक्षिप्तों जैसी हो जाती है । आत्महीनता चढ़ बैठती है घुटन अनुभव होती है और मृगतृष्णा में भटकने वाले हिरन जैसी मन:स्थिति बन जाती है । इन्हीं कुण्ठाओं से घिरे हुए जीवन के शेष दिन पूरे करने पड़ते हैं ।

यह एक की नहीं अनेकों की समस्या है, इसे सुलझाने के लिए नए

सिरे से चिंतन और निर्धारण की आवश्यकता पड़ेगी । सोचना होगा कि सभी शिक्षकों को सरकारी नौकरियां नहीं मिल सकतीं, ऊंचे पद और अधिक वेतन की नौकरियाँ तो और भी अधिक कठिन हैं । यह बात यदि आरंभ से विचार ली जाए तो दूसरे समाधान खोजे जा सकते हैं और रास्ता बदला जा सकता है ।

बचपन में शारीरिक एवं मानसिक विकास इतना नहीं होता कि उस अविकसित स्थिति में कोई आजीविका कमाने की बात सोची जा सके । वह समय तो शारीरिक समर्थता और मानसिक बहुज्ञता बढ़ाने का है । इस दृष्टि से पढ़ाई में लगना आवश्यक भी है और उपयुक्त भी, पर यह नहीं सोचना चाहिए कि पढ़ने के बाद इच्छित स्तर की नौकरी मिलेगी ही । इस यथार्थता पर आरंभ में ही विचार करना चाहिए कि नौकरी के दूसरे विकल्प क्या हो सकते हैं । आजीविका का प्रश्न अन्य किन तरीकों से हल क्रिया जा सकता है । अपनी स्थिति में जो सरल संभव हो उसी को प्रधानता देनी चाहिए और आजीविका की दृष्टि में स्वावलंबी होने पर विचार करना चाहिए ।

अपने देश में अभी उद्योगों की बहुत गुंजाइश है । कुटीर उद्योगों को यदि सुधरे हुए ढंग में अपनाया जाए तो वे मिलों की प्रतिस्पर्द्धा में भी ठहर सकते हैं । मिलों में उत्पादन तो अधिक होता है, पर साथ ही उनमें लगने वाली पूंजी का ब्याज, टूट–फूट, चोरी, नुकसान भी इतने होते हैं कि उनकी लागत बढ़ जाती है और मंहगे दाम में बाजार तक पहुंचते हैं । कमीशन पर कमीशन उन्हें और भी अधिक मंहगा बना देते हैं, जबं कि गृह उद्योगों में यह झंझट कम से कम हैं । स्वदेशी आंदोलन् फिर नए उत्साह के साथ चलाया जाए और खादी की तरह हस्त उद्योगों का भी प्रचार प्रसार किया जाए तथा लोग मिल की बनी अधिक खूबसूरत वस्तुओं की तुलना में मामूली किस्म की वस्तुओं को प्रधानता देने लगें तो कुटीर उद्योगों का प्रवचन नए उत्साह के साथ उभर सकता है । उससे लाखों शिक्षितों, कारीगरों और बिक्रेताओं को नए सिरे से काम मिल सकता है ।

व्यापार के नाम पर अपने देश में बनी वस्तुओं की दुकान लगाकर बेचते रहना ही प्रधान कार्य रह गया है, इसकी उपयोगिता उतनी नहीं

जितनी उत्पादन की । विक्रय में तो थोड़े से आदमी ही खप जाते हैं । किसी नगर में एक हजार दुकानें हों तो उनमें से एक मालिक एक नौकर के हिसाब में मात्र दो हजार ही व्यक्ति खप सकेंगे । इसकी अपेक्षा तो सुपर मारकेट स्तर का एक बड़ा विक्रय केन्द्र बन जाने में भी काम चल सकता है । प्रमुखता उत्पादन को मिलनी चाहिए जिसमें लाखों को रोजी–रोटी मिल सके । गृह उद्योगों के अतिरिक्त कृषि और पशुपालन के दो उद्योग ऐसे हैं जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर कहीं अधिक बढ़ाए जाने की गुंजाइश है । लकड़ी–लोहे के कामों की भी कम गुंजाइश नहीं है । कुम्हार के कामों को ईंटें–खपरैलें बनाने–पकाने का काम भी यदि सम्मिलित कर लिया जाए तो उसकी भी बहुत बढ़त हो सकती है, सुराही–घड़े तो आम उपयोग की वस्तुएं हैं ही ।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास करने वाली विद्याओं से अवगत–अभ्यस्त होना है । व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन से संबंधित अनेकों गुत्थियों को सुलझाने का कार्य शिक्षा के माध्यम से संपन्न होना चाहिए । सद्भावों, सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों को किस प्रकार पनपाया जाना चाहिए । इन विषयों में शिक्षार्थी को प्रवीण–पारंगत बनाना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है । उसे अपनी सीमा मर्यादा को पूरा करने के लिए शिक्षण संस्थानों को समग्र तत्परता के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए । अभिभावकों को घरों के बालकों को इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्कूलों में भर्ती कराना चाहिए, नौकरी के उद्देश्य से पढ़ने पढ़ाने वाली पद्धति का तो कायाकल्प ही होना चाहिए ।

नौकरियों में बार बार अदली बदली होती रहती है, इससे पड़ौसियों–मित्रों का परिकर टूटता है । नए मकान किराए पर लेने पड़ते हैं, इसमें वेतन का अधिकांश भाग चला जाता है । मातृभूमि की जो सेवा करनी चाहिए थी, वह भी नहीं बन पड़ती । गांव छोड़कर शहरों को भागना पड़ता है क्योंकि जहां जन्मे हैं वहां तो नौकरी मिलना कठिन है । इन सबको देखते हुए शिक्षा को बच्चों के भविष्य के साथ जोड़ना चाहिए । उन्हें क्या बनना और क्या बनाया जाना है ? इस चिंतन में नौकरी वाली बात को यदि निकाला–हटाया जा सके तो उत्तम है, क्योंकि भविष्य में अच्छी नौकरियों का मिलना दिन दिन कठिन होता जाएगा । यदि किसी प्रकार

पेट ही भरना है तो वह कार्य गांव में रहकर भी हो सकता है । जहां सस्ता जीवन व्यतीत कर सकना संभव है और साथ ही स्वजन–संबंधियों के साथ स्नेह–सहयोग के साथ दिन बिताना भी सरल है ।

जन्मदात्री माता के समान वह भूमि भी माता के समान है । जहां जन्म लिया है जिसकी धूलि में पलकर बड़े हुए हैं–माता की सेवा की तरह यह भी आवश्यक है कि जन्मभूमि की प्रगति में कुछ बढ़–चढ़कर योगदान दिया जाए वहां भी आजीविका के स्रोत खोजे जा सकते हैं । शहर इसलिए मंहगाई, गंदगी, बीमारी और दुष्प्रवृत्तियों के केन्द्र बनते जा रहे हैं कि उनमें देहाती जनता बसने के लिए आतुरतापूर्वक दौड़ती और भरती चली जा रही है । यदि देहाती लोग देहातों में ही पैर जमाने लगें तो वहां की स्थिति ही बदल सकती है । शिक्षित लोगों का गांवों से शहरों की ओर पलायन भी ऐसा ही है जैसा कि भारत जैसे गरीब देश के सुशिक्षित प्रतिभावानों का संपन्न विदेशों में अधिक वेतन पाने के लिए पलायन करते जाना । इसमें विदेशी नफे में रहते हैं और देश में उन प्रतिभाओं की कमी पड़ती जाती है जो देश में रहकर उसे अधिक समृद्ध–समुन्नत बना सकते थे ।

प्राचीनकाल की गुरुकुल पद्धति का स्वरूप यह था कि पुस्तकीय पाठ्यक्रम उतना ही होता था जितने के सहारे जीवन मार्ग पर आने वाली समस्याओं का समाधान हो सके । ज्ञान का महासागर तो अथाह है, यदि उस समूचे को कोई संग्रह करना चाहे तो उसके लिए दसियों जन्मों का समय भी कम पड़ेगा । यदि सार्थक शिक्षा लेनी है तो उन प्रसंगों को छोड़ना पड़ेगा जो स्कूल छोड़ने के बाद व्यावहारिक जीवन में कभी काम ही नहीं आते । इस संचय में काम की बातें छूट जाती हैं और निरर्थक कूड़ा सिर पर लद जाता है, निरर्थक इसलिए कि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । यहां तक कि आजीविका का प्रश्न भी हल नहीं होता, ऐसी दशा में बच्चों की शिक्षा के संबंध में नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है । पढ़ा और पढ़ाया वही जाना चाहिए जो नौकरी न मिलने पर भी काम आता रहे । ऐसा ज्ञान या अनुभव यदि वर्तमान शिक्षा के माध्यम से उपलब्ध नहीं हो सकता तो नए सिरे से गुरुकुल पद्धति का अवलंबन करना चाहिए । जितना खर्च और समय सरकारी स्कूलों की ऊंची शिक्षा प्राप्त करने में लगाना पड़ता है, उतने से कम में ऐसे विद्यालय

चल सकते हैं जो गुरुकुलीय पद्धति के आधार पर शिक्षण प्रदान करें– व्यावहारिक जीवन की हर समस्या पर प्रकाश डालें । व्यवहार कुशलता को कोई भी पक्ष अछूता न छोड़ें, साथ ही आजीविका उत्पादन के लिए भी कुछ ऐसे हुनर सिखाएं जो देहातों में ही चल सकें ।

शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है–छात्रावास । घर के वातावरण प्रायः ऐसे नहीं होते जिनमें पलकर बालक गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत बन सकें । सुसंस्कारिता और शालीनता की कसौटी पर खरे उतर सकें, इसके लिए उपयुक्त वातावरण चाहिए । उसे बनाने में अभिभावक और परिवारीजन समर्थ नहीं हो सकते तो यह कार्य ऐसे छात्रावास द्वारा संपन्न किया जाना चाहिए जो शिक्षार्थियों की दिनचर्या को भी सुनियोजित रख सकने में समर्थ हों ।

खेद की बात है कि जिस शिक्षा के ऊपर बालकों का, उनके परिवार का भविष्य निर्भर है उसकी ओर पूरी उपेक्षा बरती जाती है । जो ढर्रा चल रहा है उसे ही चलाया जाता है, यह नहीं सोचा जाता कि यदि प्रस्तुत शिक्षा से समस्याऐं हल नहीं होतीं तो उसका विकल्प सोचा और खड़ा किया जाए, इस दिशा में उपेक्षा बरता जाना बुद्धिमान मनुष्य की मूर्खता ही मानी जाएगी ।

नाव में वजन बढ़ाते चलने की मूर्खता

नाव हल्की होती है तो उसे तैरने, पार पहुंचने में सुविधा रहती है, यदि उसमें वजन बहुत अधिक लद जाए तो कहीं भी हिलोर से, चट्टान से टकराकर डूबने का खतरा बढ़ जाता है । जिसके सिर पर बोझिल गट्ठा लदा है उसके लिए लंबी यात्रा, ऊंची चढ़ाई कठिन पड़ती है, पर जो खाली हाथ है वह आसानी से लंबी दूरी पार कर लेता है, ऊंची चढ़ाई भी चढ़ लेता है । हर कोई चाहता है कि उसे हल्की फुल्की जिन्दगी जीने का अवसर मिले । हंसी खुशी इसी में सुरक्षित रह सकती है, अपने उत्कर्ष के बारे में सोच सकना भी ऐसी ही स्थिति में बन सकता है ।

लंबे समय तक चलने वाला दायित्व बड़े परिवार का है, उस पर

निरंतर भारी व्यय करना पड़ता है और वह उपक्रम लंबे समय तक चलता है । एक बच्चा जन्म से लेकर स्वावलंबी बनने तक की अवधि में निर्वाह, शिक्षा, चिकित्सा, विनोद, शादी व्यवस्था आदि के बहाने औसतन एक लाख रुपया खर्च करा देता है । चूंकि वह खर्च दैनिक व्यय व्यवस्था में जुड़ जाता है इसलिए पता नहीं चलता, पर यदि एक एक पाई का हिसाब रखें, उसके निमित्त खर्च होने वाले समय की कीमत जोड़ें तो उपरोक्त अनुमान अत्युक्तिपूर्ण नहीं लगेगा । एक बच्चा जमने का अर्थ एक लाख रुपया कर्ज के रूप में सिर पर लाद लेना है जिसे अनिवार्य रूप में तब तक चुकाते रहना पड़ता है जब तक कि शरीर में सामर्थ्य रहती है ।

जिनने जितने अधिक बच्चे उत्पन्न किए हैं उनने उतना ही गुना कर्ज अपने सिर पर लादा है–ऐसा कर्ज जिसमें किफायत या हिमायत होने की किसी प्रकार गुंजाइश नहीं है, उसे तो हर हालत में चुकाते ही रहना पड़ेगा भले ही उसके लिए बेईमानी–बदनामी जैसा रास्ता क्यों न अपनाना पड़े ?

बात इतने पर ही समाप्त नहीं होती । लोग मोहवश उनके लिए भारी भरकम संपदा उत्तराधिकार के रूप में भी छोड़ जाना चाहते हैं–इसके लिए न्यायोचित कमाई पूरी नहीं पड़ती । दूसरा रास्ता बेईमानी अपनाने का ही शेष रह जाता है, उसी के सहारे किसी सीमा तक वह मनोरथ पूरा हो पाता है ।

जिनने जितने बच्चे जने हैं उनने उतना ही बोझ अपने सिर पर लादा है, इस बोझिल भार को वहन करते रहने पर मनुष्य का शरीरबल–बुद्धिबल पूरी तरह खप जाता है । व्यस्तता के दबाव में ऐसा कुछ बन पड़ना संभव नहीं रहता कि आत्म कल्याण की, व्यक्तित्व के विकास की बात सोची जा सके, वैसा कुछ इच्छा होने पर भी नहीं बन पड़ता । स्वास्थ्य सुधारने, ज्ञान बढ़ाने, पुण्य परमार्थ करने और महानता की ओर बढ़ चलने के लिए अनेकों काम सामने होते हैं, पर उनमें से एक भी बन नहीं पड़ता । पेट और प्रजनन के कुचक्र में ही बहुमूल्य जीवन खप जाता है । मुट्ठी बांधकर आए और हाथ पसारे चले जाने की उक्ति पूरी तरह अपने ऊपर चरितार्थ होती है । कारण कि बड़े परिवार की चिंताएं और जिम्मेदारियां इस कदर लगी रहती हैं कि इच्छा रहते हुए वैसा कुछ करते धरते नहीं बन पड़ता जिससे भविष्य को उज्ज्वल बनाने, वर्तमान को

शानदार रखे रहने की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए जा सकें । कोल्हू के बैल की विवशता के घेरे में ही घिरा रहना पड़ता है ।

जिन अभिभावकों ने जन्म दिया है, पाल पोसकर समर्थ बनाया है उनका कर्ज चुकाना उचित है । उनकी सेवा सहायता करना कर्तव्य है, पर ऐसे अनचाहे मेहमानों को न्यौत बुलाना कहां की बुद्धिमानी है जिसके लिए अपना जीवन ही पूरी तरह दाँव पर लगाना पड़े । हर बच्चा अपने लिए खेलकूद की सुविधा–सामग्री से लेकर निर्वाह के अच्छे साधन चाहता है । ऊंची शिक्षा उपयुक्त शादी और गुजारे के लायक समुचित आजीविका भी उसे चाहिए । यह सब कर पाना अपने बलबूते में न हो तो मेहमान को बुलाना और उसे बिना स्वागत सत्कार दिए दुत्कार देना कहां का शिष्टाचार रहा ? जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए समुचित सरंजाम नहीं जुटा सकते उनके लिए यही उचित है कि न तो बालकों को अभावग्रस्त, अनगढ़ बनाने के दोष के भागी बनें और न असंतोष–उपहास के भागी बनें । ऐसे बालक आरंभ से ही अनुभव करते हैं कि हमें बुला तो लिया गया पर न्याय नहीं किया गया, जो थोड़ा बहुत मिला है, उससे उन्हें संतोष नहीं होता । अधिक की आवश्यकता अनुभव करते हैं । उतना अभिभावक जुटा नहीं पाते, फलतः दोनों पक्षों में असंतोष पनपता है । कई बार तो वह विद्रोह के रूप में उभरता है । बच्चे घर छोड़कर भाग निकलते हैं, कुसंग में पड़ते और दुर्व्यसन सीखते हैं । उनका भविष्य तो बिगड़ता ही है पर साथ ही अभिभावक भी उस अपयश से बच नहीं पाते हैं । अनगढ़ स्थिति में पले हुए बालक न अभिभावकों का सम्मान करते हैं और न उनका अनुशासन मानते हैं–परिवार में अराजकता की स्थिति छाई रहती है ।

पिता पर सन्तानोत्पादन के साथ साथ आर्थिक जिम्मेदारियां लदती हैं, माता को उनके लिए अपना शरीर गलाना पड़ता है–गर्भ का निर्माण उन्हीं का रक्त–मांस काटकर होता है । प्रसव काल में एक बड़े ऑपरेशन जैसी व्यथा सहनी पड़ती है, स्तन पान के रूप में उन्हें अपना रस ही निचोड़ते रहना पड़ता है–ऐसी दशा में उनका स्वास्थ्य न सुरक्षित रह पाता है और न सौन्दर्य टिक पाता है । दिन और रात में से कोई समय ऐसा नहीं बचता जिसको कि वे अपनी सुविधा के लिए लगा सकें ।

परिणाम यह होता है कि बालकों को जन्म देते देते वे कुछ ही वर्षों में खोखली हो जाती हैं । अस्वस्थता के साथ साथ रुग्णता के कितने ही लक्षण उन पर लद जाते हैं । पिता को आर्थिक कठिनाई के रूप में और माता को अपने स्वास्थ्य गंवा बैठने के रूप में अनावश्यक प्रजनन का कठोर दण्ड भुगतना पड़ता है ।

प्रजनन के साथ अवांछनीय शब्द इसलिए जोड़ना पड़ता है कि देश की परिस्थितियां बिल्कुल भी ऐसी नहीं हैं कि एक भी नए बच्चे का भार बढ़े । धरती की उत्पादन शक्ति सीमित है । वह सीमित मात्रा में ही उगा पाती है और उसके सहारे सीमित लोगों का ही निर्वाह हो सकता है । अनावश्यक संख्या में बढ़ी हुई जनसंख्या को भूखों मरना पड़ेगा, कुपोषण का शिकार दुर्बलता जन्य व्यथाओं से घिरना पड़ेगा । शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, यातायात, आजीविका, निवास–आवास आदि के अनेकों प्रश्न ऐसे हैं जो प्रयत्न करने पर भी सुलझने में नहीं आते । गुत्थियां उलझती ही जाती हैं । जितनों के लिए नया प्रबंध किया जाता है उसकी तुलना में उपभोक्ताओं की संख्या अत्यधिक बढ़ती जाती है और सारी प्रगति योजनाएं धरी की धरी रह जाती हैं । दरिद्रता और अशिक्षा के काबू में न आने पर देश दुर्बलता से घिरा रहेगा । उसको समुन्नत बनाने का सपना तब तक पूरा न हो सकेगा जब तक दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ने वाली जनसंख्या पर अंकुश न लगे । समुचित विकास साधन प्राप्त न हो सकने पर बढ़ा हुआ जन समुदाय व्यक्तित्व की दृष्टि से हेय और हीन बनकर ही रहेगा । ऐसी दशा में देश या समाज के समुन्नत, प्रगतिशील होने की आशा कैसे की जा सकती है ?

अपरिमित कामुकता की दुष्प्रवृत्तियां जब उभरती हैं और उसके परिणामों का ध्यान नहीं रहता तो ऐसा संतानोत्पादन आरंभ हो जाता है जिसकी किसी भी दृष्टि से कुछ भी आवश्यकता नहीं थी । यह कामुकता की अवांछनीय लिप्सा ही है जो स्थिति के साथ तालमेल बिठाना भूलकर उन्मादियों जैसा आचरण करने के लिए विवश करती है । इस भूल का प्रायश्चित अभिभावकों को अपनी प्रगति की बात सोचने तक का अवसर नहीं देती । वे धरती का भार बढ़ाते और गई गुजरी परिस्थितियों में उत्पन्न हुए अनगढ़ बालकों की संख्या बढ़ाते हैं ।

इस समझदारी को मूर्खता ही कहना चाहिए जिन्हें कामुकता की पूर्ति का अधिक चस्का तो दीखता है, पर यह नहीं समझते कि अपने लिए अनर्थ और जनने वालों के लिए अंधकार भरे भविष्य का सृजन कर रहे हैं । वंश चलने, पिण्डदान करने, बुढ़ापे का सहारा बनने जैसी बेतुकी बातें तो वे ही सोच सकते हैं जिनका यथार्थता से वास्ता नहीं है ।

विवाह का उद्देश्य पति पत्नी को एक दूसरे की प्रगति में सहायक बनना है । जीवन विकास की अनेकों दिशाएं हैं । उनमें प्रगति करने का एकाकी व्यक्ति को अवसर नहीं मिल पाता है । वर्तमान परिस्थितियों में आजीविका उपार्जन का काम अकेले पुरुष को करना पड़ता है । उसी से सारे परिवार का खर्च चलता है । स्कूली शिक्षा में ऐसा बहुत कम पढ़ाया जाता है जो जीवन की बहुमुखी प्रगति में सहायक हो सके । यह कार्य तो जीवन भर करते रहने का है । सद्ज्ञान संवर्धन, कला कौशल, समाज सेवा जैसे अनेकों कार्य ऐसे हैं जिन्हें आजीवन करते रहने की आवश्यकता है । परिवार अपने आप में एक छोटा राजकाज है । इस टकसाल में प्रतिभाएं ढाली जाती हैं । इस खदान से नर रत्न निकलते हैं, पर यह सब बन पड़ता तभी है जब कई व्यक्ति मिलजुलकर उसकी समस्त गतिविधियों पर ध्यान एकाग्र करें । पूरा समय लगाएं और निरंतर ध्यान रखें कि कौन सदस्य क्या भूल कर रहा है ? उसे कैसे सुधारा जाए ? जो प्रतिभावान हैं उन्हें यह सुविधा मिलनी चाहिए कि विकास की दिशा में अग्रसर करने के लिए आवश्यक प्रेरणा देना, मार्गदर्शन करना एवं व्यवस्था बनाना बन पड़े । इस निमित्त हर परिवार के पीछे कम से कम एक दंपत्ति को तो पूरी तरह जुटा ही रहना चाहिए । यह तभी संभव है जब उसके अपने बाल बच्चे न हों । निजी बालकों की भरमार होने पर मातापिता को उन्हीं की चिंता, व्यवस्था में डूबा रहना पड़ता है । दूसरों से इस कार्य में सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा रहती है । ऐसी दशा में अपना काम छोड़कर दूसरों के लिए समय, श्रम और ध्यान लगाना कैसे बन पड़े ? यदि वैसा नहीं बन सकता तो फिर यह आशा छोड़ देनी चाहिए कि अपने परिवार को स्वावलंबी, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाया जा सकेगा । निज के बच्चे पैदा करने की दृष्टि से यदि परिवार की प्रगति की व्यवस्था बनाने से मुंह मोड़ लिया जाए तो उसे बुद्धिमानों की मूर्खता एवं सृजन के लिए सुयोग्य सिद्ध

होने वालों की उपेक्षा ही कहा जा सकेगा ।

आवश्यक नहीं कि अपने निज के बच्चे पैदा करके ही घर की शोभा बढ़ाई जाए । यह कार्य दूसरे असमर्थों के बच्चे पालकर और भी अच्छी तरह संपन्न हो सकता है । अपने बच्चे तो अनेकानेक सुविधाएं पाना अपना अधिकार समझते हैं पर यदि दूसरे असमर्थों के बालक पाल लिए गए हैं, उन्हें पढ़ा–लिखाकर सुयोग्य बनाया गया है तो वे अनेक माता पिता सदा कृतज्ञता व्यक्त करते रहेंगे, उस अहसान को कभी नहीं भूलेंगे । इस उपकार से आत्म शक्ति भी मिलेगी और परिचित क्षेत्रों में सहायता भी होती रहेगी । उदारचेता सदा प्रामाणिक गिने जाते हैं और उन्हें प्रकारांतर से ऐसे लाभ मिलते रहते हैं जिनके सहारे वे अधिकाधिक श्रेय, सम्मान एवं सुयोग प्राप्त कर सके ।

अपने बालकों पर लाड़ दुलार के माहौल में ऐसा भी चल पड़ता है कि वे कुसंग में पड़े और कुमार्गगामी बने । ऐसी दशा में बड़े होने पर वे अभिभावकों के लिए सिर दर्द भी बन सकते हैं । मोह और स्वार्थ का परिणाम उल्टा भी हो सकता है । किंतु यदि अन्य लोगों के बालकों को पालने में अपना धन, समय और प्यार लगाया गया हो तो उस परमार्थ का प्रतिफल हर दृष्टि से श्रेयस्कर ही होगा । कठिनाई तब आती है जब दूसरों के बच्चों को उत्तराधिकारी बनाने के लिए गोद लिया जाता है । यदि किन्हीं को गोद न लिया जाए, मात्र पढ़ाया जाए तो उसमें उच्चकोटि की देश सेवा भी बन पड़ती है । बुद्धिमानों को यही चाहिए कि अपनी पत्नी को बच्चों से लादकर उसे अपंग, असमर्थ एवं भारभूत न बनाएं । स्वयं उसका सहयोग करके सुयोग्य बनावें और उसे अपनी सेवा सहायता करने योग्य रहने दें ।

संपन्नता नहीं महानता

हर प्रतिभावान व्यक्ति को अपना गौरव बढ़ाने, दिखाने की महत्वाकांक्षा होती है । प्राणि मात्र में पेट प्रजनन की आकांक्षा पाई जाती है । पर मनुष्य की एक और उमंग है–अपने को अन्यान्यों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ वरिष्ठ सिद्ध करने की । इसको महत्वाकांक्षा कहते हैं । हर प्राणवान व्यक्ति में महत्वाकांक्षा पाई जाती है । ऐसे कम ही होते हैं जो पेट भरने, तन ढकने भर से संतुष्ट हो जाएं । आत्म प्रदर्शन के लिए कोई प्रयत्न न करें ।

तन ढकने के लिए कुछ गज कपड़ा लपेट लेने से काम चल सकता है किंतु देखा जाता है कि चित्र विचित्र फैशन वाले कितने ही जोड़े नई नई किस्म के सजाकर लोग रखते हैं और उन्हें अदलते बदलते रहते हैं । महिलाएं सभी अंगों को जेवरों से सजाती हैं । केश विन्यास के अपने अनौखे तरीके हैं । इन सबका एक ही प्रयोजन है कि दूसरे लोगों का देखने के लिए आकर्षण बढ़े । इस आधार पर उस सजधज वाले को विशिष्ट स्तर का माना जाने लगे । स्वाभाविक सुन्दरता को कई गुना बढ़ा कर दिखाने के लिए कितने ही शृंगार प्रसाधन चेहरे से लेकर अन्य अंगों तक पोते जाते हैं । इस संबंध में महिलाएं पुरुषों से कहीं आगे हैं । इस साज सज्जा में कितना धन, कितना समय लगता है । फैशन पुराना पड़ने पर नया अपनाया जाता है ताकि जो विन्यास निगाह से उतर चुका उसके स्थान पर नया धारण करने में लोगों की दृष्टि पड़े । कलाकारिता और संपन्नता की चकाचौंध आँखों में गढ़े । यह मानसिक ललक का प्रतिफल है जो अपने को दूसरों से बढ़चढ़कर प्रदर्शित करना चाहते हैं । संपन्न लोग आवश्यकता से अधिक बड़े मकान बनाते हैं । किले बंगले, कीमती साज, सज्जा से सजाए जाते हैं । वाहन, नौकर आदि आवश्यकता से अधिक संख्या में रखते हैं । प्रीतिभोज, जलपान के ठाठ आए दिन बनते हैं और कई प्रकार के खर्चीले व्यसन अपनाए जाते हैं । इन सब का कारण एक ही है कि उनका वैभव बढ़ा चढ़ा माना जाए और उस आधार पर अपने को अन्यों की तुलना में सौभाग्यवान माना जाए । यह आडम्बर बड़प्पन की विडम्बना ही रचाती है । यदि वह न होती तो थोड़े साधनों से काम चल सकता था, कम समय और कम धन खर्चने से काम चल सकता था । उस बचत को अन्य उपयोगी कामों में लगाया जा सकता था जिससे अपना या दूसरों का भला होता ।

प्रतिस्पर्द्धाओं के आयोजन आए दिन रचे जाते हैं । मोटर दौड़, घुड़दौड़, पर्वतारोहण जैसे जोखिम भरे कामों में लोग इसलिए सम्मिलित होते हैं कि विजयी की साहसिकता चर्चा का विषय बने । लोग अपने अपने ढंग के कीर्तिमान स्थापित करने के लिए क्या क्या कष्ट उठाते और दुःसाहस दिखाते हैं, इसकी चर्चा पत्रिकाओं में पढ़ी और चर्चा में सुनी जाती है । इन कार्यों में इतना साहस किसलिए दिखाया जाता है ? इतना धन

और समय किसलिए खर्च किया जाता है ? इसका उत्तर एक ही है बड़प्पन की महत्वाकांक्षा । जो वस्तुतः बड़े काम नहीं कर पाते वे झूठी प्रशंसा कराने के लिए चाटुकारों को खरीदते और उनके द्वारा प्रशंसा के पुल बांधने वाले छद्म रचते हैं । कितने ही तो इसी बात की रोटी खाते हैं कि प्रसिद्धि के लोभियों को खुश करने के लिए तिल का ताड़ बनाएं और नगाड़े बजाएं । बहुधा युद्ध भी इसी निमित्त लड़े जाते थे । दास दासियों के झुण्ड भी इसीलिए पाले जाते थे कि उनका बड़प्पन चर्चा का विषय बने । विवाह शादियों में भी इसी निमित्त बढ़ चढ़ कर धूमधाम जुटाई जाती है । कुत्ते से लेकर शेर पालने तक का शौक इसलिए अपनाया जाता था कि उनका नाम चर्चा का विषय बने ।

विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस प्रकार के शौकीन अपनी अहंता भर का पोषण करते हैं । दूसरे उन्हें बड़ा मानें ऐसा होते नहीं देखा जाता । हर आदमी अपने कामों में व्यस्त है उसे ऐसी विडम्बनाएं ध्यानपूर्वक देखने की फुरसत ही कहां होती है ? फिर एक नहीं अनेकों ऐसे ही ढकोसले रचते हैं, उन्हें कौन भाग्यवान, श्रीमान मानता है ? उल्टे यही कहा जाता है कि बेईमानी की कमाई बेरहमी से उड़ाई जा रही है । ढकोसले खड़े करके झूठी वाहवाही लूटी जा रही है । असलियत देर तक छिपती कहां है ?

गरीबों द्वारा अमीरी का स्वांग बनाया जाना कितना बचकाना लगता है । धोबी से किराए पर कपड़े लेकर बारात में अकड़ते हुए चलना जानकारों की दृष्टि में कितना भौंड़ा लगता है । इसी कुचक्र में कितने ही लोग कर्जदार बन जाते हैं और बाप दादों की संचित पूंजी स्वाहा कर बैठते हैं । कम आमदनी वालों पर अमीरी का ढकोसला बनाने का चस्का चढ़ता है तो उन्हें इसका जुगाड़ जुटाने के लिए अनीति पर उतरना पड़ता है । फिजूलखर्ची आदमी को ईमानदार नहीं रहने देती । गड्ढा भरने के लिए उन्हें कुकर्मों की राह अपनानी पड़ती है । ऐसे लोगों की वस्तुस्थिति प्रकट हुए बिना नहीं रहती । जो लोग वास्तविकता से परिचित होते जाते हैं वे सम्मान देने के स्थान पर घृणा करने लगते हैं । उनका साथी सहयोगी भी कोई नहीं रहता क्योंकि साथियों को भी ऐसे ही कुचक्रों में निरत मान लिया जाता है ।

अमीरी का ढकोसला खड़ा करके बचकाने लोग बड़प्पन पाने का प्रयत्न करते हैं पर उन्हें उसमें सफलता नहीं मिलती । ढोल की पोल खुले बिना नहीं रहती । कोई अनपढ़ विद्वान होने की डींग हांके तो कुछ ही देर के वार्तालाप से कलई खुल जाती है । फिर अब अमीरी के आधार पर बड़प्पन का रौब जमाने का समय भी चला गया । कोई समय रहा होगा जब सामंतों की तूती बोलती थी । उनके आतंक से भयभीत लोग लंबा सलाम झुकाते थे । पर अब लोगों का साहस खुला है । निकृष्टता की घृणास्पद शब्दों में ही आलोचना की जाती है । साम्यवादी विचारधारा ने अमीरों के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया है. । उनकी कटु आलोचना भी होती है और खुलेआम बेईमान बताया जाता है । निष्ठुर ही धनवान बन सकते हैं अन्यथा यदि अधिक आमदनी थी तो उसे दूसरे जरूरतमंदों को दिया जाना चाहिए था । लोकोपयोगी कामों में लगाया जाना चाहिए था । जो उस ओर से मुंह फेरे रहते हैं और अपव्यय की आतिशबाजी जलाने में शान अनुभव करते हैं उन पर अनुपयुक्तता का लांछन तो लगेगा ही, स्वार्थी एवं निष्ठुर भी कहा ही जाएगा ।

विवेक बुद्धि ने बड़प्पन को, ढकोसला रचने को बचकानापन कहकर अमान्य ठहरा दिया है । दूरदर्शिता और शालीनता का प्रतिपादन यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट आदर्शवादिता से सुसंपन्न करे और गुण, कर्म, स्वभाव से महानता का समग्र समावेश करे । प्रामाणिक बनकर रहे, दृष्टिकोण को ऊंचा रखे और उदारता बरते । सादा जीवन उच्च विचार की नीति अपनाए । औसत नागरिक स्तर का निर्वाह करें ताकि अधिक उपार्जन बन पड़ने पर बचत वाले साधनों को दूसरों की सेवा, सहायता में लगाया जा सके ।

अमीरी की विडम्बना और फिजूलखर्ची की क्षुद्रता को छोड़कर बड़प्पन पाने की अभिलाषा पूरी करने के इच्छुकों को निराश ही होना पड़ता है । उत्पीड़न का आतंक भी किसी के मन में आदर भरा स्थान नहीं बना सकता । यह तो हो सकता है कि भीतर घोर घृणा भरी हो पर लालच या भय से आक्रांत होकर जीभ से प्रशंसा के शब्द निकलवा लिए जाएं पर छद्म देर तक छिपा नहीं रहता । अवसर मिलते ही यथार्थता अपना स्वरूप प्रकट कर देती है । जो हेय है वह हेय ही रहेगा, तथ्यों

को देर तक झुठलाया नहीं जा सकता । भ्रष्ट चरित्र और दुष्ट आचरण वाले यशस्वी जीवन जी सकते हैं और न प्रतिष्ठा पा सकते हैं । इतना होते हुए भी लोग इसी राह पर चलते देखे गए हैं । अनेकों का चिंतन अभी भी यही बना हुआ है कि पाखण्डों के सहारे वे बड़प्पन पा सकते हैं और उसे देर तक स्थिर रख सकते हैं । यदि यह भ्रांति मिट गई होती तो लोग बड़प्पन के स्थान पर महानता पसंद करते । सीधा और सरल मार्ग चुनते । वह प्राप्त करते जिसे पाने की उनकी आंतरिक अभिलाषा थी । ओछे आधार अपना कर बटोरा गया बड़प्पन तिनकों से बनाए गए महल की तरह हवा के एक ही झोंके से उड़कर कहीं से कहीं जा पहुंचता है ।

महानता शाश्वत है और स्थिर भी । व्यक्तित्व को आदर्शों से ओत–प्रोत करके हर किसी की दृष्टि में प्रामाणिक बना जा सकता है । प्रामाणिकता ही मानवी गरिमा है । इसके लिए गुण, कर्म, स्वभाव को, चिंतन चरित्र और व्यवहार को ऐसा बनाना पड़ता है जो उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध हो सके । यही वह विभूति है जिसके आधार पर आत्म संतोष, जन सम्मान, अजस्र सहयोग का प्रतिफल हाथों–हाथ मिलता है । समझदारी का तकाजा एक ही है कि अपने क्रिया कृत्यों में ईमानदारी का समावेश रखा जाए, कर्तव्यों के प्रति जिम्मेदारी निबाही जाए, प्रलोभनों और दबावों के आगे न झुकने का साहस दिखाया जाए ।

व्यक्तिगत रूप से कोई धनवान, विद्वान, बलवान, प्रतिभावान, कलाकुशल, चतुर आदि विशेषताओं से संपन्न हो सकता है । दूसरों की तुलना में अपने को अधिक शक्ति सामर्थ्य का धनी सिद्ध कर सकता है पर साथ ही यह भी निश्चित है कि संपदाओं के दुरुपयोग बन पड़ने का खतरा भी बना ही रहेगा । साथ ही ईर्ष्यालु के आघातों आक्रमणों की संभावना भी बनी रहगी । चोर और आक्रमणकारी कुचक्री भी अपनी घात लगाते रहेंगे । चापलूसों, चाटुकारों द्वारा प्रशंसा का लालच दिखाकर हितैषी बनने और दल दल में फंसा देने की संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । ऐसी दशा में आशंकाएं, अशुभ संभावनाएं बनी ही रहेंगी । उनके कारण चित्त में उद्विग्नता भी उठती रहेगी ।

बड़प्पन के साथ जुड़े हुए खतरों को समझना चाहिए और अशांत

मनःस्थिति में जो दुर्गति होती है उसका भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार का कोई जोखिम महानता का मार्ग अपनाने में नहीं है, उसकी गरिमा अंतः करण को प्रसन्न–उल्लसित रखती है साथ ही दूसरों का जो उपकार बन पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया भी मंगलमय ही होती है। चरित्र निष्ठा और लोकमंगल में संलग्नता इन दो आधारों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति अपनी उत्कृष्टता के आधार पर सर्वसाधारण के सम्मुख ऐसे आदर्श प्रस्तुत कर सकता है जिससे प्रेरणा पाकर उन्हें भी श्रेष्ठ सज्जन बनने का अवसर मिल सके।

आवश्यक नहीं कि महानता का मार्ग अपनाने के लिए धनवान या विद्वान बनना आवश्यक हो। इसके लिए चतुरता या समर्थता भी आवश्यक नहीं। सज्जनता की रीति नीति अपनाना हर किसी के लिए हर परिस्थिति में संभव है। अंतःकरण सद्भावना से, उदारता से ओतप्रोत हो तो संपर्क क्षेत्र में सेवा सहायता करने, उदारता बरतने के अवसर अनायास ही मिलते रहते हैं। श्रम, समय लगाकर भी सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए कुछ न कुछ करते रह सकना सुगम संभव हो सकता है। सज्जनता अपनाकर ही दूसरों के सामने यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि मर्यादाओं का परिपालन, वर्जनाएं न तोड़ने का अनुशासन पालने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। दूसरे लोग समुचित प्रत्युत्तर न दें तो भी अपनी ओर से एकांगी शालीनता बरती जा सकती है और वातावरण में उत्कृष्टता की सुगंध भरी जा सकती है, अपना कल्याण साधते हुए दूसरों को भी उसी दिशा में अग्रसर किया जा सकता है।

महत्वाकांक्षाएं तभी श्रेयस्कर हो सकती हैं जब उनके साथ पुण्य परमार्थ की भावना को संजोए रखा जा सके। महानता के मार्ग पर हर कोई चल सकता है और सच्चे अर्थों में विभूतिवान–सौभाग्यवान बन सकता है, इसे मूर्खता ही कहना चाहिए कि लोग बड़प्पन की मृगतृष्णा में भटकें और महानता की उत्कृष्टता की उपेक्षा करें।

नारी भार बनकर न रहे

प्रकृति ने सभी जातियों के प्राणियों को नर मादा के रूप में विनिर्मित किया है । दोनों ही वर्ग साथ-साथ रहते ओर मिलजुलकर काम करते हैं । प्रजनन से लेकर शिशुपालन तक की अवधि में भी वे दोनों उस नए उत्तरदायित्व का निर्वाह मिलजुलकर करते हैं, पक्षी समुदाय में दोनों मिलजुलकर घोंसला बनाते हैं-इस हेतु सहयोग देने और लेने में किसी को कुछ संकोच नहीं होता ।

अधिक बुद्धिमान होने के नाते मनुष्य में यह योगदान और भी अधिक होना चाहिए । दोनों को जब प्रकृति का आकर्षण खींचकर अधिक समीप लाता है तो उसके पीछे उसका यह उद्देश्य प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है कि एक दूसरे के पूरक बनें । नारी कला और भावना की देवी है । पुरुष में पुरुषार्थ और साहस का बाहुल्य है, दोनों के मिल जाने पर ही एक समग्र व्यक्तित्व बनता है । इस अपूर्णता का पूर्णीकरण ही जोड़ा बनाने का उद्देश्य है, उनके पारस्परिक सहयोग से जीवन शकट अपनी पटरी पर ठीक तरह घूमता रह सकता है, दोनों अपने अपने हिस्से का काम तो बांटें ही इस बात का भी अभ्यास करें कि आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे का हाथ बंटा सकें । नर और नारी का युग्म बनाने के पीछे यही प्रकृतिगत और यही समाजगत उद्देश्य है ।

जब तक यह क्रम परंपरा ठीक तरह चलती रही तब तक यह समन्वय पूरी तरह सफल होता रहा, उससे दोनों वर्गों को समान रूप से लाभ हुआ और समाज व्यवस्था का पहिया भी ठीक तरह अपनी पटरी पर लुढ़का ।

दुर्भाग्य वहां से शुरू हुआ जहां पुरुष ने कामुकता को बढ़-चढ़कर प्रश्रय दिया, उसे एक व्यसन के रूप में अंगीकार किया और नशेबाजों की तरह उसे तिल से ताड़ बनाने लगा । यह मान्यता जब कुचेष्टा के स्तर तक पहुंची तो उसने नए-नए गुल खिलाए । पुरुष के चिंतन पर उद्धतता सवार हुई और उसने सोचा कि क्यों न नारी की प्रजनन काल वाली शिशु पालन की अनिवार्यता वाली दुर्बलता का लाभ उठाया जाए । उन दिनों शारीरिक दुर्बलता और उपार्जन की अक्षमता को भूत की तरह खड़ा किया गया और समझाया गया कि वह पुरुष की दासी बनकर रहे । उसकी

मनमर्जी पर चले और बदले में निर्वाह का आश्रय पाकर उतने भर में संतुष्ट रहे । महत्वाकांक्षाओं को निकाल फेंके, बराबरी की बात न सोचे । निर्बाह पाने के अतिरिक्त नर से और कुछ आशा न करे और बराबरी का अधिकार जताए, उसे प्रजनन व्यवस्था सौंपकर जब प्रकृति ने ही एक क्रम बनाया है तो उसे अपने को हेय हीन मानना नहीं चाहिए, इसे अपनी नियति समझकर संतुष्ट रहना चाहिए ।

बात कुछ जँचने वाली सी प्रतीत हुई और उसे एक परंपरागत ढर्रे के रूप में अपना लिया गया, बाद में शिकंजा अधिक कड़ाई से कसता चला गया और नारी मात्र पुरुष की स्वच्छन्द काम–क्रीड़ा का माध्यम बनकर रह गयी ।

यह शिकंजा ऊपर से भी कस गया और भीतर से भी, ऊपर से उसे पर्दे के भीतर चहारदीवारी में कैद किया गया । एकाकी कहीं आने जाने पर प्रतिबंध लगाया गया, बंध्यत्व को मात्र नारी का पापकर्म मानकर उसे उपेक्षित स्थिति में दिन गुज़ारने के लिए कहा गया । सती होने, सिर मुड़ाने, तीर्थों में रहकर भिक्षाटन करने जैसी प्रथाएं चलाई गयीं, इसमें परिवार वालों का यह लाभ था कि विधवा के भरण पोषण के दायित्व से छुटकारा मिलता था और पति की छोड़ी संपदा से उसे वंचित कर देने का सहज उपाय था ।

भीतर से उसे इस प्रकार तोड़ा गया कि अपने को कामिनी, रमणी, भोग्या मात्र समझे और इसके लिए शृंगार सजाने में, अधिक आकर्षक, उत्तेजक बनने में लगी रहे । कठिन श्रम करके अपनी कोमलता पर सुन्दरता पर आंच न आने दे । गुड़िया की तरह सजी संवरी रहने और पति को अधिक आकर्षित किए रहने में ही अपना सौभाग्य समझे ।

भीतर और बाहर के इन द्विविध शिकंजों में कसे जाने के उपरांत नारी अपंग असहाय जैसी बनकर रह गई, उसे पुरुष पर पूरी तरह आश्रित बन जाने की स्थिति में ला खड़ा किया गया । जब प्रचलन का प्रवाह चल पड़ा और वातावरण उस प्रकार का बन गया तो आनाकानी कौन करे ? प्रवाह से हटकर अन्य विकल्प सोचने का साहस कोई किस प्रकार करे ? पुरुष को इसमें अपना लाभ जंचा, उसे रोटी कपड़े के मूल्य पर आठों याम हुकम बजाने वाली दासी जो मिल रही थी, वह क्यों उस

सुविधा को छोड़ता । नारी के सामने भी और कोई मार्ग न था, यौवन की दहलीज पर पहुंचते पहुंचते वह कई बच्चों की मां बन जाती है । उनका लालन पालन इतना कठिन पड़ता है जिसे वह अकेले अपने बलबूते चला सकने की स्थिति में रह नहीं गई थी । अस्तु वह ढर्रा चल पड़ा जो अब तक चला आता है । नारी पालतू पशु की तरह अपने अन्नदाता के आश्रित बनकर रह रही है, उसे प्रगति के लिए मन चलाने का अधिकार ही नहीं है । वह स्वावलंबन की इच्छा तक प्रकट नहीं कर सकती, उपेक्षित कूड़ेकचरे की तरह अहसान के रूप में पेट पालती है, सम्मान पाने की अभिलाषा तो उसे मन के किसी कोने में ही दबाकर रखनी पड़ती है । दासी के लिए सम्मान की क्या आवश्यकता ? जब भरपेट रोटी और तन ढंकने को कपड़ा मिलता है तो स्नेह पाने की उत्कंठा क्यों ?

आज की नारी की स्थिति पिछड़े और प्रगतिवान देशों में अलग अलग है, पर मौलिक स्थिति में कोई अंतर नहीं । पिछड़े देशों में उसे भारी दबाव के नीचे रहना पड़ता है और विवशता के दिन गुजारने पड़ते हैं । संपन्न देशों में उसे अधिक आकर्षक–उत्तेजक बनने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है ताकि वह अपनी सुविधा और सुसज्जा की बात को प्रमुखता देकर स्वेच्छापूर्वक पुरुष का अनुग्रह पाने के लिए लालायित फिरे । लालायित फिरने का बड़ा प्रमाण यह है कि वह अपने लज्जा अंगों को भी उभारती और दर्शकों का मन अपनी ओर लुभाती देखी जाती है । उभरे हुए उत्साह ने माहौल ऐसा बना दिया है कि संपन्न देशों में नारी सुलभ लज्जा के दर्शन यदाकदा जहां तहां ही होते हैं, इसे प्रगतिशीलता नहीं आत्महीनता की दयनीय अभिव्यक्ति ही समझा जा सकता है । संपन्न और विपन्न दोनों में नारी की अपने अपने ढंग की विशेषता है साथ ही दुर्दशा भी ।

इस दयनीय स्थिति में धकेलने से किसे क्या मिला ? नारी तो घाटे में रही है नर भी नफा न कमा सका । नारी के मानवोचित मौलिक अधिकार छिन जाने से उसे विवश बाधित तो होना पड़ा, पर इससे नर को क्या मिला ? उसके लिए एक महत्वपूर्ण सहयोगी हर समय हाथ बंटाकर जो प्रगति, सुविधा और प्रसन्नता का आधार बन सकता था उसे गले में भारी पत्थर की तरह लटकाने की स्थिति स्वीकार करनी पड़ी । आज

परिवार पालन पूरी तरह से नर का दायित्व है और वह इसके लिए निरंतर खपता भी रहता है और चिंताग्रस्त भी बना रहता है । स्थिति कितनी विभीषिका भरी है इसका पता तब चलता है जब चार पांच बच्चों की माता युवावस्था में ही विधवा हो जाती है । पति की बचत बीमारी आदि में ही समाप्त हो चुकी होती है । मरने के उपरांत विधवा और उसके संतप्त परिवार को कहीं आश्रय नहीं मिलता, न पिता के घर में गुजारा है और न ससुराल में । बच्चे अनाथों की तरह पग पग पर तिरस्कृत होते हैं और अभावों–अपमानों के बीच किसी प्रकार पलते हुए बढ़ते बढ़ते बुरी तरह अनगढ़ असंस्कृत हो जाते हैं । माता की व्यथा वेदना का तो ठिकाना ही नहीं रहता, वह जीवित लाश की तरह किसी प्रकार अपना प्राण धारण किए जीती है सो भी अबोध बालकों की ममता के कारण । ऐसे उदाहरण एक नहीं अनेकों मिल सकते हैं । गांव गांव, मुहल्ले मुहल्ले यह दयनीय दुर्दशा उस प्रचलन का परिणाम है जिसमें नारी को शिक्षित, स्वावलंबी बनने का अवसर तो नहीं मिलने दिया गया । यदि उसे भी सुविधा मिली होती तो किसी पर भार न रहती वरन् परिवार को समुन्नत बनाने में बढ़–चढ़कर हाथ बंटाती ।

आधी जनसंख्या अपंग बनकर रहे और आधा वर्ग उसका भार ढोए तो इस स्थिति को अर्धांग पक्षाघात पीड़ित जैसी ही समझा जा सकता है । इसमें न पीड़ित पक्ष को चैन मिल सकता है और न घिसटकर चलने वाले दूसरे पक्ष को ही सुखपूर्वक रहने का अवसर मिलता है, इसे बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्य की बढ़ी चढ़ी मूर्खता ही कहा जा सकता है । जिसके आधार पर अहंकार का उथला परिपोषण कर लेने के अतिरिक्त और कुछ ऐसा हाथ नहीं लगता जिस पर प्रसन्नता व्यक्त करता और प्रगति की दिशा में कुछ कदम उठाता ।

तथ्यतः नारी की कुशलता, दक्षता, क्षमता नर से किसी भी प्रकार कम नहीं है । प्रसव उस पर लादा गया है, जिसे उसकी दुर्बलता का प्रमाण बता कर डरते रहने के लिए बाधित किया जाता रहता है । इस भार को अति मात्रा में लादने में आसानी से कटौती की जा सकती है । प्रतिज्ञाबद्ध होकर कितने ही युग्म प्रजनन भार से आजीवन बचे रहते हैं और सुरक्षित शक्ति को एक दूसरे का हाथ बंटाने में, अधिक सुयोग्य

अधिक सुखी बनाने में लगाते हैं । इसी स्थिति में वह उदाहरण बनता है जिसमें दो पहिए समान स्तर के होने पर बोझिल गाड़ी को भी दूर तक खींच ले जाते हैं, दोनों अपने अस्तित्व को सार्थक बनाते हैं ।

जहां भी अवसर मिला है वहां नारी ने अपनी प्रसुप्त क्षमताओं को जागृत करके दिखाया है और सिद्ध किया है कि वह नर से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है । शिक्षा क्षेत्र में लड़कों की तुलना में लड़कियां अधिक अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होती हैं, शिक्षा चिकित्सा कला विज्ञान आदि क्षेत्रों में उनका कौशल अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा चढ़ा रहता है । उद्योग व्यवसाय में भी वे पीछे नहीं, पिछड़ापन उनका जन्मजात नहीं है वरन् उसे बलात् थोपा गया है । यदि यह बंधन शिथिल कर दिए जाएं, उनकी स्वतंत्र प्रतिभा को उभरने का अवसर दिया जाए तो निश्चय ही पलड़ा उन्हीं के पक्ष में भारी पड़ेगा । सृष्टि के सभी प्राणियों में नर–मादा के बीच हल्की ही पहचान तो होती है, पर ऐसा नहीं होता कि उनमें से किसी को समर्थ किसी को असमर्थ माना जाए । दोनों की अपनी अपनी विशेषताएं हैं और अपनी अपनी क्षमताएं । वे जब सम्मिलित–समन्वित हो जाती हैं तो एक एक मिलकर ग्यारह होने का उदाहरण बनती हैं । आधी जनसंख्या को अपंग बनाकर नर ने अपना कितना स्वार्थ साधन किया यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि उसे घाटा असीम उठाना पड़ा । समझना चाहिए कि उसने अपने समर्थ सहयोगी को पददलित करके अपना ही भार बढ़ाया है । अपने ही भविष्य को अंधकारमय बनाया है । जिस कामुकता को अतिवाद की सीमा तक पहुंचाकर उस प्रयोजन के लिए नारी को बाधित किया वह भी तो ठीक तरह पूरा नहीं हो सका । बाधित स्थिति में तो बलात्कार ही हो सकता है, आनंद तो समर्पण भरे सहयोग में है और उसे पाने के लिए साथी की सुविधा और प्रगति का ध्यान रखना पड़ता है । सेवा और कृतज्ञता के वातावरण में ही सद्भाव विकसित होते हैं और सहयोग के उद्यान में सुरभित पुष्प खिलते हैं । नारी उस स्थिति में मूर्तिवान लक्ष्मी बनती है जब उसे सघन सहयोग और सेवा सहायता के साथ सींचा गया हो ।

भूल चलते हुए लंबा समय बीत गया उस कारण क्षति भी असीम मात्रा में उठा ली गई । अब वह समय आ गया जब उस नासमझी को

सुधारा जाए और नई परंपरा का नए सिरे से शुभारंभ किया जाए । दोष पुरुष से आरंभ हुआ इसलिए प्रायश्चित भी उसी को करना चाहिए । अपने संपर्क क्षेत्र में जितना भी नारी समुदाय आता हो उस सबको उठाने की, समर्थ बनाने की प्रेरणा देनी चाहिए कि नारी को स्वावलंबी, सुसंस्कारी, स्वाभिमानी बनाने में कुछ कमी न रखें ताकि उसकी प्रगति का प्रमाण समूचे मानव समाज में परिलक्षित हो ।

विभेद और विभाजन की दुरवद दीवारें

संसार में अनेक जाति के प्राणी बसते हैं, उनकी आकृति में क्षेत्र विशेष के आधार पर कुछ अंतर भी पाया जाता है, फिर भी उस जाति का नाम एक ही रहता है । हाथी, घोड़ा, गधा, बैल आदि पशु और मोर, कबूतर, बतख, सारस आदि पक्षी संसार भर में एक ही नाम से जाने जाते हैं । सांप, बिच्छू, चींटी, दीमक आदि की भी अपनी अपनी जातियां हैं, वे कहीं बसें जानी एक ही नाम के अनुरूप जाएंगी । मनुष्य भी एक प्राणी है, वह संसार के किसी भी क्षेत्र में रहे, कोई भी भाषा बोले, चेहरे की आकृति में कुछ अंतर भले ही हो, पर वह माना मनुष्य ही जाएगा । मनुष्य की एक जाति है, उसके अंग अवयव एक जैसे होते हैं । कहीं भी बसने वाले, चमड़ी के किसी भी रंग वाला होने पर भी उसकी जाति 'मनुष्य' ही रहेगी ।

जाति की एक पहचान यह भी है कि वह अपने ही वर्ग में सन्तानोत्पादन कर सकते हैं । जाति की भिन्नता होगी तो जोड़ा न मिलेगा, वे न तो प्रणय कर सकेंगे और न प्रजनन में समर्थ होंगे । मनुष्य की यदि अनेक जातियां रही होतीं तो उनके बीच प्रणय संबंध न बनते । प्रजनन में समर्थ न होते, पर ऐसा अंतर कहीं भी देखा नहीं जाता । मनुष्य जाति के सभी प्राणी यत्किंचित भिन्नता रहने पर भी यौनाचार करते और वंश वृद्धि कर सकने में समर्थ पाए जाते हैं–ऐसी दशा में उनकी जाति एक ही रहेगी ।

क्षेत्र और जलवायु के, वंश परंपरा के अनुरूप गोरी, काली, पीली,

चमड़ी तो पाई जाती है । चेहरे की बनावट में भी थोड़ा बहुत अंतर रहता है, इतने पर भी उन्हें मनुष्येत्तर जाति का नहीं कहा जा सकता–प्रकृतिक्रम यही है ।

फिर भी लोगों ने देश, क्षेत्र, भाषा आदि के नाम पर अपने विशेष वर्ग बना लिए हैं । पंजाबी, मद्रासी, बंगाली, चीनी, जापानी आदि । भाषाओं के आधार पर भी यह विभाजन किए गए हैं । फिर भी ये वास्तविक नहीं । प्रकृति प्रदत्त एकता को खण्डों में नहीं बाँटा जा सकता ।

भारत का जातिवाद अपने ढंग का विचित्र है । यहां पुरातन काल में वर्गभेद आरंभ हुआ था, तब उसका आधार कर्म व्यवसाय था । शिक्षक, सैनिक, व्यवसायी, शिल्पी वर्गों में उनकी पहचान बनी थी, पर वह स्थाई नहीं अस्थाई थी । व्यवसाय बदलने की सदा से सबको छूट रही है । इस आधार पर कोई जब चाहता था तब अपना वर्ग बदल लेता था । अभी भी यह व्यवसाय भेद वाला वर्गीकरण चलता है । उनके संगठन भी बनते हैं । किसान सभा, श्रमिक संघ, व्यापारी मण्डल, अध्यापक सभा, रिक्शा यूनियन आदि संगठनों के वे लोग सदस्य रहते हैं जो उस व्यवसाय में सम्मिलित रहते हैं । व्यवसाय बदल जाने पर वर्ग भी बदल जाते हैं । जो आज अध्यापक है कुछ समय बाद वह सेना पुलिस में भर्ती हो सकता है । रिटायर होने पर व्यवसाय कर सकता है । इस प्रकार उसके वर्ग समयानुसार बदलते रहेंगे । इतने पर भी उसकी जाति मनुष्य ही रहेगी । यहां तक कि वंश परिवार भी एक ही बना रहेगा । वर्ग या वर्ण एक ही जीव में अनेक बार बदला जा सकता है । फिर भी मानवी स्नेह, सहयोग की दृष्टि से उनके बीच एकता ही बनी रहेगी । वोटर की एक ही जाति है भले ही वह किसी भी क्षेत्र में रहता हो कोई भी व्यवसाय करता हो ।

इस सीधे सादे प्रश्न को मध्यकाल के अंधकार युग ने बेतरह उलझा दिया है । जन्म के, वंश के आधार जातियां माने जाने लगे । बात यहां तक रहती तो भी काम चलता रहता । पर जब उनके बीच ऊंच नीच का भेदभाव आरंभ हुआ तो अपने पराए की आपाधापी भी चल पड़ी । जातियों में से उपजातियाँ निकलीं और छोटे समुदायों के रूप में देशवासी विभाजित हो गए । कुछ वर्ग अपने को वंश के आधार पर ऊंच और दूसरों को नीच

मानने लगे । गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्गीकरण हो भी सकता है, पर वंश के आधार पर यह विभाजन चल पड़े और ऊंच नीच की मान्यता बने तो उसे आश्चर्य ही कहा जाएगा ।

यह आश्चर्य इन दिनों तो परंपरा के रूप में परिपक्व होता चला जाता है । हर वर्ग के अनेकों उपवर्ग हैं और वे अपने को प्रथम जाति मानते हैं और ऊंच नीच का भेदभाव बरतते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यदि वंशों में कितनी ही जातियां हैं । वे एक–दूसरे के साथ रोटी–बेटी तक का व्यवहार नहीं करतीं । अपने को उपजाति के सीमित दायरे में ही संकुचित करती हैं । सामाजिक उत्सव आयोजनों में अपने ही वर्ग को एकत्रित किया जाता है । विवाहों में सम्मिलित होने वाले बाराती प्रायः उसी जाति के होते हैं । यह संकीर्णता व्यवसाय से लेकर राजनीति तक में घुसती चली गई है । यहां तक कि वोट डालते समय देखा जाता है कि प्रतिनिधि उनकी जाति का है कि दूसरी जाति का । उसकी योग्यता, ईमानदारी पर कम और अपनी जाति वाला होने पर अधिक ध्यान दिया जाता है ।

बड़ी कहलाने वाली जातियों की तरह यह बीमारी छोटी जातियों में भी फैली है । वे भी रोटी–बेटी का व्यवहार अपने ही छोटे दायरे में करते हैं । छूत–अछूत सभी इस दृष्टि से एक ही लकीर पर चल रहे हैं । अछूत छूतों से शिकायत करते हैं कि उनके साथ भेदभाव बरता जाता है । पर जब अछूत–अछूत के बीच भी वही वर्ग भेद की नीच–ऊंच की बात चलती है तो और भी अधिक आश्चर्य होता है ।

विभेद और विभाजन के इस कुप्रचलन से समूचे समाज को भारी क्षति पहुंची है । भाषावाद, प्रांतवाद, सम्प्रदायवाद के कारण धड़े बंदी का कोढ़ पहले से ही चल रहा था । इसमें जाति–पांति, ऊंच–नीच की खाज और जुड़ जाने से समाज के शरीर में कुरूप विद्रूपता का दौर और जुड़ गया । कहने भर को हम भारतीय हैं, पर भावनात्मक विभेदों को देखते हुए लगता है कि एकता की शक्ति को हम खंडित करते चले जा रहे हैं । नारंगी बाहर से एक फल दिखाई पड़ती है, पर उसका छिलका उतारने पर प्रकट होता है कि उसके भीतर कितने ही ऐसे अणु हैं जो एक दूसरे से अपनी अलग पहचान बनाते हैं । यह दुखद दुर्भाग्य की स्थिति है । जो कमी रह गई थी उसे जातिवाद पूरा कर रहा है । संकीर्णता और

कट्टरता का उभार बना रहने पर हम सब अनेक खण्डों में बंटते जा रहे हैं । ऐसी दशा में अमोघ समझी जाने वाली एकात्मता की शक्ति का अक्षुण्ण बने रहना कठिन है ।

जातिगत आपाधापी के साथ दूसरों को विराना समझकर उनकी उपेक्षा करने का भी रिवाज बनता है । इस संकीर्णता के दूरगामी दुष्परिणाम होते हैं । व्यवसाय में, नौकरियों में, चुनाव में अपने वर्ग को अलग लाभ प्राप्त होने, अधिक सफलता मिलने के प्रयत्न चलते हैं । इसकी प्रतिक्रिया दूसरों पर होती है । वे भी जैसे को तैसा बरतने की नीति अपनाते हैं और खाई चौड़ी होती चली जाती है । आगे चलकर यही विष बेल लड़ाई झगड़े, गवाही, मुकदमेबाजी आदि में चलती है । फिर न्याय नीति की दृष्टि ओझल हो जाती है और जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रांतवाद की कट्टरता हर व्यवहार पर हावी होने लगती है । बात यहां तक बढ़ती है कि अपनी जाति का बहुमत बनाकर शासन सत्ता पर अधिकार जमा लेने तक की योजनाएं बनने लगती हैं । परिवार नियोजन के द्वारा जनसंख्या न बढ़ने देने के सर्वमान्य औचित्य की उपेक्षा की जाने लगती है और यह सोचा जाने लगता है कि हमारे वर्ग की अधिकाधिक संतानें हों ताकि अपने वोट पड़ें, अपने प्रतिनिधि जीतें । उनके संरक्षण में अपने लोगों को अधिकाधिक लाभ मिले । स्पष्ट है कि वर्ग विशेष को अधिकाधिक लाभ मिलने लगेगा उनका अनुचित पक्ष प्रतिक्रम चलेगा तो उसकी प्रतिक्रिया होगी । ईंट का जबाव पत्थर से देने की बात सोची जाने लगेगी । फलतः कलह बढ़ेगा और ऐसे विग्रह खड़े होंगे जिनसे निपटना कठिन हो जाएगा ।

सभी जानते हैं कि मिलजुलकर रहने से संयुक्त शक्ति विकसित होती है और उसके बड़े बड़े लाभ मिलते हैं । बुहारी की सींकें कपड़े के धागे बिखर जाएं तो उनकी उपयोगिता भी नष्ट हो जाएगी । संयुक्त शक्ति के रूप में विकसित हुए राष्ट्र जापान, इजराइल जैसे छोटे होने पर भी प्रगति पथ पर तेजी से अग्रसर होते हैं, बड़ी बड़ी कठिनाइयों को पार कर लेते हैं । पर जहां बिखराव का बोलवाला होता है वहां सारी शक्ति लड़–झगड़ में ही समाप्त हो जाती है । ईर्ष्या, द्वेष का आक्रमण प्रतिशोध के प्रतिशोध का सिलसिला चलता ही रहता है और परिणति सबके लिए सब

प्रकार से अहितकर ही होती है ।

अपने देश में जाति पांति के साथ विवाह शादियों का भी उपक्रम जुड़ गया है । लोग अपनी अपनी बिरादरियों में ही लड़की लड़कों के विवाह करना चाहते हैं । उपजातियों में गोत्रों में बंटते बंटते हर वर्ग का दायरा बहुत छोटा रह गया है । उतने ही दायरे में लड़की लड़के खोजने पर इच्छित स्तर के जोड़े नहीं मिलते । विवशता में उन्हीं लोगों में से वर वधू का चुनाव करना पड़ता है । योग्यों की कीमतें बढ़ जाती हैं । अयोग्यों में से ही किसी का चुनाव करना पड़ता है । इसलिए देखा जाता है कि अयोग्य साथी खोजकर ही किसी प्रकार काम चलाना पड़ता है । यदि चुनाव का दायरा विशाल रहा होता तो दूर दूर तक मारे फिरने की, खुशामदें करने की मंहगी दहेज देने की आवश्यकता न पड़ती । पास पड़ोस में ही अच्छे लड़की लड़के मिल जाते । उनकी प्रकृति परंपरा के संबंध में भी आवश्यक जानकारी रहती और विवाह सफल होते रहते, पर जब उपजाति के फेर में दूर दूर तक की भाग दौड़ करनी पड़ती है तो उस परिवार की स्थिति तथा लड़की लड़के के स्वभाव की वास्तविक जानकारी नहीं मिल पाती । अंधा जुआ खेलना पड़ता है और उसमें कई बार अनुपयुक्तता भी हाथ लग जाती है । उपजातियों के फेर में विवाह शादियों की समस्या पेचीदा होती जाती है । इसका समाधान सरल था । जाति भेद को आड़े न आने दिया जाता तो बिना बोली बोले, सरलतापूर्वक सस्ते में संबंध बन जाया करते । संकीर्णता के बंधन भी शिथिल होते, आत्मभाव का दायरा बढ़ता भी ।

अपने देश में पिछड़ापन भी वर्ण जाति के साथ जुड़ गया है । लोग ही पिछड़े नहीं रहते वरन् समुदाय भी जाति बंधन में बंधे होने और वैसे ही रीति रिवाज अपनाये रहने के लिए गई गुजरी स्थिति में पड़े रहते हैं । जन जातियों का, अनुसूचित जातियों के पिछड़ेपन का यही प्रमुख कारण है कि वे गए गुजरे स्तर का निर्वाह करने के लिए बाधित हो रही है । यदि उन्हें विकसित लोगों के साथ घुलने मिलने का अवसर मिला होता तो एकता और समता की अभिवृद्धि हुई होती । कोई उन्नति अवनति के दायरे में न बंटा होता । सभी लोग एक स्थिति में रहते और मिलजुलकर आगे बढ़ने, ऊंचे उठने का लाभ समान रूप से

उठाते । विभाजन ने एक बड़े वर्ग को आत्महीनता में ग्रसा और उनसे प्रगति की दिशा में बढ़ चलने का अवसर छीना । इसे सामाजिक अन्याय ही कह सकते हैं ।

संविधान ने इस प्रकार के वर्ग भेद को अस्वीकारा है । सबको समान स्थिति में लाने के लिए आर्थिक और राजनैतिक प्रयत्न भी किया है किंतु काम इतने भर से चलने वाला नहीं है । इसके लिए भावनात्मक परिवर्तन करने हों तो मान्यताएं बदलनी होंगी और आदतों में सम्मिलित हो रही उन परंपराओं में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा जो अपने समाज में तथाकथित ऊंचे और नीचे माने जाने वाले लोगों को जाति के आधार पर ऊंच नीच मानने के लिए उकसाती हैं ।

इसे बुद्धिमानों की मूर्खता ही कहना चाहिए जिसने विभेद और विभाजन की दीवारें खड़ी कीं । असंख्य लोगों को जाति पांति मिथ्या अभिमान से न उठने देने और अनेकों को पददलित स्थिति में पड़े रहने के लिए बाधित किया । इस मूर्खता का अंत करने के लिए ठीक यही समय है । इस भूल ने हिन्दू समाज के एक बहुत बड़े भाग को समतावादी धर्मों में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया है । यदि स्थिति यही रही तो हिन्दू धर्म की जाति पांति व्यवस्था भी अन्यायमूलक मानी जाएगी और लोग उससे कटते हटते चले जाएंगे ।

भाग्यवाद और ग्रह गोचर

कर्म और उसका प्रतिफल यह अन्योन्याश्रित है । दिन भर परिश्रम करने पर शाम को मजदूरी मिल जाती है । पूंजी जमा करने पर बैंकें ब्याज देने लगती हैं । व्यवसायी दूकान चलाते और अपना गुजारा निकालते हैं । किसान बीज बोता है और उत्साहपूर्वक फसल काटता है । अध्ययनशील विद्वान बनते हैं । अखाड़े में नियमित रूप से जाने वाले पहलवान बनते हैं । कलाकार भी उसी प्रकार अभ्यास करते करते और अपने विषय में प्रवीण पारंगत बनते हैं । कर्म का फल स्पष्ट है । अभक्ष्य खा लेने पर पेट में दर्द उठ खड़ा होता है । आत्महत्या करने वाले मृत्यु के मुख में चले जाते हैं किंतु संयमी और सुव्यवस्थित जीवन पद्धति अपनाने वाले पुष्ट, निरोग और दीर्घजीवी बनते हैं । मृदुल, नम्र और सज्जनोचित

स्वभाव वालों के अनेक मित्र, सहयोगी देखे जाते हैं जबकि क्रोधी, कर्कश और दुर्गुणी अनेकों को अपना निन्दक विरोधी बना लेते हैं । यह सब अपने ही कर्तृत्व का प्रतिफल है । कर्म फल को मिलने में देर हो सकती है पर उस प्रतिफल में अंधेर नहीं है ।

आज का कर्म कल का भाग्य बन जाता है । आज का दूध कल दही बन जाता है । उसका नाम, रूप बदल जाता है । पर ऐसा नहीं होता कि बिना दूध के दही जमने लगे । भले बुरे कर्म ही हमारे लिए सुखद और दुखद प्रतिफल लेकर उपस्थित होते हैं । हमें कर्मफल की सुनिश्चितता स्वीकार करनी ही चाहिए ।

कभी कभी तत्काल प्रतिफल नहीं मिलता, विलंब हो जाता है । इतने भर से आतुर लोग धैर्य खो बैठते हैं और यह संदेह करने लगते हैं कि जो किया है उसका फल मिलेगा भी या नहीं । इस प्रकार का अविश्वास ही दार्शनिक नास्तिकता है । ईश्वर को मानने और उसकी उपासना करने का फलितार्थ अंतःकरण में यह विश्वास जमाना है कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वदर्शी और न्यायशील है । उसकी दृष्टि मे कोई कर्म छिपे नहीं रहते, वह समयानुसार सभी को उसके कर्मों का फल इस या उस रूप में देता है । वे परिणाम भौतिक लाभ हानि के रूप में भी हो सकते हैं और आत्मिक प्रगति प्रसन्नता के रूप में भी । दुष्कर्मों की परिणति विपन्नताओं के रूप में ही होती है चाहे उसमें विलम्ब ही क्यों न लगे ।

किसान बीज बोता है, उसके फसल बनकर काटने में कई महीने लग जाते हैं । माली बगीचे में पेड़ लगाता है । उनके भी प्रौढ़ परिपक्व बनने में वर्षों लग जाते हैं । बरगद, पीपल जैसे वृक्ष तो प्रौढ़ होने में लंबी अवधि लगा लेते हैं । फिर भी कोई किसान, कोई माली न तो अधीर होता है और न विश्वास खोता है । देरी लगने के कारण कोई ऐसा नहीं करता कि काम को छोड़ बैठे और निराशा अपना ले ।

इस सुनिश्चित सिद्धांत की सर्वथा उपेक्षा करके कुछ नासमझ लोग भाग्यवाद का एक अजीब सिद्धांत अपनाते हैं । वे मानने लगते हैं कि भाग्य लिखने वाला विधाता कोई और है जो किसी के मस्तक में कुछ और किसी के में कुछ अपनी मनमर्जी के अनुसार लिखता रहता है । इस मान्यता के कारण कर्मफल की संगति टूट जाती है । विधाता जब अपनी मर्जी से ही

सब कुछ लिखता है तो उसमें कर्मफलों की जांच पड़ताल की क्या आवश्यकता पड़नी चाहिए ?

यदि यह भाग्यवादी मान्यता सही हो तो विधाता को ही सारा श्रेय या दोष मिलना चाहिए । कौन क्या करेगा ? क्या फल भोगेगा ? यह निर्धारण यदि विधाता के ही हाथ हो तो किसी को श्रेय, सुख और किसी को दुख, अपयश देने के लिए विधाता ही उत्तरदायी हुआ । मनुष्य तो कठपुतली मात्र रह गया । कठपुतली के नाच का आधारभूत कारण बाजीगर को ही माना जाता है और श्रेय या पुरस्कार उसी को दिया जाता है । कठपुतली तो निमित्त मात्र है । वह दीखती भर है । उसका कर्ता ही लाभ उठाता है । बंदूक, तलवार आदि से हत्या की जाती है, पर उस कृत्य का दण्ड चलाने वाले मनुष्य को ही मिलता है । बंदूक तो निर्जीव है निमित्त मात्र है उसे फांसी कहां लगती है ? यदि विधाता ही सब कुछ रच देता है तो उस आधार पर बन पड़े कृत्यों की जिम्मेदारी भी उस पर आती है जिसने यह सब निर्धारण किया है । ऐसी दशा में किसी मनुष्य को पापी या पुण्यात्मा नहीं ठहराया जा सकता । उसने भाग्य विधान से विवश होकर ही कुछ किया है । इस प्रकार उस निमित्त मात्र पर न तो कोई दोषारोपण हो सकता है और न उसे कुछ श्रेय मिल सकता है । तब किसी की निन्दा, प्रशंसा होने का कुछ औचित्य ही नहीं रह जाता फिर उसे दण्ड पुरस्कार तो मिलना ही क्यों चाहिए ?

विधाता भाग्य की रचना करता है । इस मान्यता के पीछे कोई तुक नहीं है । अधिक से अधिक यह माना जाता है कि पिछले कर्मों के प्रतिफल की व्याख्या कोई अदृश्य शक्ति अपने नियमानुसार बनाती है । यदि ऐसा है तो मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता माना जाना चाहिए । यह दूसरी बात है कि कुछ पौधे जल्दी उग आते हैं और कुछ को उनकी प्रकृति के अनुसार थोड़ा विलंब लग जाता है । इतने पर भी कर्ता ही प्रधान हुआ । उसी की कृतियां समयानुसार फली फूलीं । इसलिए विधाता को आड़े डालकर अपनी कृतियों को गौण बनाने, उपेक्षित करने की चेष्टा नहीं ही की जानी चाहिए ।

ग्रह नक्षत्रों द्वारा किसी को सुख दुख दिए जाने की मान्यता तो और भी अधिक बेतुकी है । सौर मण्डल के सभी ग्रह, उपग्रह पृथ्वी

से बहुत दूर हैं । फिर वे पदार्थ पिण्ड मात्र हैं । उनमें न तो जीवन पाया गया है और न वे स्वयं जीवित हैं । जड़ वस्तुओं की तरह अपना अस्तित्व भर बनाए हुए हैं । प्रकृति क्रम के अनुसार सभी आकाशस्थ पिण्डों की तरह वे भी अपनी कक्षाओं और धुरियों पर परिभ्रमण करते हैं यह उनकी अपनी विधि व्यवस्था है । इसी के अनुरूप वे अपनी गतिविधियां अपनाएं रहते हैं, उनका प्रकाश और हल्का सा प्रभाव भर धरती पर आता है । ऐसी दशा में यह कैसे संभव हो सकता है कि वे धरती के निवासी ५०० करोड़ मनुष्यों में से हर एक को खोजें, पहचानें और उन्हें चुन चुनकर भले या बुरे परिणाम प्रस्तुत करें इतनी खोज रखना तो पृथ्वी निवासी अत्यंत बुद्धिमान मनुष्य के लिए भी संभव नहीं हो सकता, फिर यह कैसे संभव है कि आकाशस्थ ग्रह व्यक्तियों को खोजें, उस पर इतने दिन की ऐसा फल देने वाली दशा चढ़ाएं, उन्हें त्रास या उपहार प्रदान करें ।

हर क्षण लाखों बच्चे उत्पन्न होते हैं, उन सब की कुण्डलियां भी एक सी होनी चाहिए । ऐसी दशा में एक समय में जन्मे सभी बालकों का भाग्य एवं भविष्य एक जैसा होना चाहिए, पर ऐसा होता कहां है ? जन जातियों में जन्मे और समृद्ध परिवारों में जन्मे बालक अपने अपने ढंग का जीवनयापन करते देखे जाते हैं ? ऐसी दशा में उस मान्यता का क्या तुक बैठा जिसके अनुसार जन्मकाल के अनुसार एक समय में जन्मे एक सी कुण्डली वाले बच्चों का भाग्य एवं जीवन का स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकार का दीख पड़ता है ।

फिर यह और भी विचित्र बात है कि जिस ग्रह की भेंट पूजा कर दी जाए वह अपना अशुभ फल छोड़कर उलटी अनुकंपा दिखाने लगे । यह तो मनुष्यों के भ्रष्ट समुदाय में पाया जाने वाला रिश्वतखोरी–चापलूसी जैसा प्रचलन हुआ । सही तरीके छोड़कर गलत काम करा लेने के लिए उसी समुदाय में यह हथकण्डे चलते हैं । यदि देवता भी उसी हथकण्डे को अपनाने लगें तो उनके देवत्व पर विश्वास कौन करेगा ? फिर उन्हें हेयजनों जैसी रीति नीति अपनाने वाला क्यों न कहा जाए ? जो संपन्न लोग भेंट पूजा का खर्च उठा सकते हैं वे तो उस लाभ को उठा लेंगे । जो दरिद्र या असमर्थ हैं वे वैसा न कर पाने की दशा में

उनके कोपभाजन ही बने रहेंगे । ऐसी दशा में देवताओं को न्याय का समर्थक न कह कर भ्रष्टाचारियों की पार्टी में ही बिठाया जाने लगेगा । यह उनके लिए और भी लज्जा की बात है जो इस बहाने पूजा पत्री की राशि हड़पते हैं और कलंक लांछन का भागी उन देवताओं को बनाते हैं जिनकी सत्ता और समर्थता का बखान करते वे नहीं अघाते । आखिर उन्हें न्यायनिष्ठ भी तो होना चाहिए, अपने निश्चय में दृढ़ता भी तो बनाए रखना चाहिए । भेंट पूजा का प्रलोभन सामने आते ही अपनी विधि व्यवस्था बदलने लगे तो उनकी महानता पर विश्वास कौन करेगा ?

वस्तुतः वैसा है कुछ नहीं, ग्रह–नक्षत्र या देवता अपने कार्य में व्यस्त हैं । उन्हें इतनी फुर्सत कहां जो करोड़ों लोगों में से चुन चुनकर कुछ को त्रास दें और किसी पर उपहारों की वर्षा करें । कभी उन्हें कोई सजीव मानते रहे होंगे और उसके ऊपर ऐसी ही उलट पुलट करते रहने का आरोपण थोपते रहे होंगे, पर आज तो विज्ञान का युग है । सौर मण्डल के सभी ग्रह उपग्रहों की स्थिति को जान लिया गया है और अब यह संभव नहीं रहा कि उन पर व्यक्ति विशेष को चुन चुन कर उल्टा सीधा प्रभाव डालने की बात कही जा सके, उन्हें भाग्य का भविष्य का निर्माता ठहराया जा सके ।

ग्रहों का प्रभाव यदि पड़ता होता तो उससे धरती का कोई बड़ा भाग प्रभावित होता होगा । उतने क्षेत्र में रहने वाले सभी समान रूप से प्रभावित होते होंगे, व्यक्ति विशेष से उनका कोई राग द्वेष हो सकता है ऐसी कल्पना करने या मान्यता बनाने के पीछे कोई आधार दिखाई नहीं पड़ता ।

कभी कभी किसी लड़की या लड़के को मंगली ठहरा दिया जाता है । मंगली का अर्थ है जन्म कुण्डली के किसी विशेष कोष्ठक में मंगल का अंकन होना । ऐसे बच्चों के संबंध में समझा जाता है कि यह वैधव्य या विधुरदायी है । लड़की मंगली होगी तो उसे विधवा बनना पड़ेगा, लड़का होगा तो उसे विधुर होने का त्रास सहना पड़ेगा इसीलिए यह उपाय सोचा गया है कि मंगली लड़के लड़की का ही आपस में विवाह किया जाए ।

मंगल का अर्थ होता है कल्याण, वह जहां भी रहेगा, बैठेगा कल्याण

करेगा, पर यह कैसा मंगल जो अपने निवास स्थान का ही सफाया करे । लड़की की कुण्डली में पति के स्थान पर बैठे तो पति का सफाया करे । लड़के की कुण्डली में पत्नी भाग पर बिराजे तो वधू का सफाया करे । इसका क्या कारण हो सकता है ? यह गहरा विचार करने पर भी कोई वजह मालूम नहीं पड़ती । बिना छेड़े तो सांप भी नहीं काटता फिर मंगल का कोई अपमान नुकसान न करने पर भी वह ऐसा अनर्थ करेगा–यह समझ से बाहर की बात है ।

इस कुचक्र में कई सुयोग्य लड़की लड़के उपयुक्त जोड़ा मिलने से वंचित हो जाते हैं । मंगली लड़की को न मंगला लड़का मिल पाता है और न मंगले लड़के को मंगली लड़की । इस खोजबीन में मुद्दतें बीत जाती हैं और बहुत से वरों को विवाह योग्य आयु निकल जाने पर कुंआरे ही रहना पड़ता है, इसमें बेसिर पैर का भ्रम जंजाल ही एक मात्र कारण है । इतनी दूरी पर विद्यमान मंगल किसी की विवाह शादी में बाधक बनने के लिए किस प्रकार दौड़कर पृथ्वी तक आ सकता है ? इसे कुकल्पना और भ्रांत धारणा के अतिरिक्त और क्या कहा जाए ?

एक तो दहेज जाति पांति आदि कारणों से सुयोग्य जोड़े तलाश करना वैसे ही कठिन पड़ता है–इस पर भी जन्म कुण्डलियां मिलाने का एक और संकट मोल ले लिया जाए तो कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाएगी । संसार भर में अनेकों धर्म संप्रदाय हैं, कहीं कोई जन्मपत्री न तो बनाता है और न विवाह शादी के अवसर पर उन्हें मिलाने की आवश्यकता समझी जाती है । मात्र भारत के सवर्ण हिन्दुओं में से एक छोटा सा तबका है जो कुण्डली मिलाकर लड़की लड़के की शादी करने की बात पर विश्वास करता है । हिन्दू समाज में भी तीन चौथाई ऐसे हैं जो इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं समझते और पसंदगी के वर वधू का धड़ल्ले से संबंध पक्का करते हैं । उन का न कोई अनर्थ होता है और न असमंजस आड़े आता है, बुद्धिमानों की मूर्खता ही ऐसे निरर्थक ताने बाने बुनती और हैरानी मोल लेती रहती है ।

विभेद और विलगाव देर तक न टिकेंगे

संसार भर में प्रायः दो हजार धर्म संप्रदाय हैं । उन सभी के अपने अपने तत्वदर्शन हैं, इनमें परस्पर यत्किंचित एकता पायी जाती है अन्यथा सभी की अपनी अपनी स्वतंत्र धारणाएं है । यह मान्यताएं कैसे जन्मीं ? इसका एक ही उत्तर है कि सीधे भगवान ने वैसा कहा या भगवान के देवदूतों पैगम्बरों ने उस प्रकार का प्रतिपादन किया । ऐसे स्रोतों को झुठलाया कैसे जाए ? श्रद्धा तो श्रद्धा ठहरी । भगवान के अथवा देवदूतों के कथन मिथ्या कैसे हो सकते हैं । ? तर्क का श्रद्धा में कोई प्रवेश या स्थान नहीं । ऐसी दशा में ईश्वर या देवदूतों के कथनों से इन्कार कैसे करते बने ?

सभी धर्मों का भगवान एक है, उनमें से अधिकांश यही मानते हैं कि समस्त संसार का निर्माता–स्वामी एक है । दो या अधिक भगवान होने की किसी धर्म में मान्यता नहीं है । देवता अवश्य अनेक माने जाते हैं, पर वे सृष्टा या विधाता नहीं हैं । देवताओं की सामर्थ्य एवं कार्य पद्धति सीमित है । वे परब्रह्म होने का दावा नहीं करते । इसी प्रकार कुछ धर्मों में ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी शैतान भी माना गया है । उसका काम बहकाना है, छल प्रपंच से कुमार्ग पर धकेलना ही उसका काम है । इतने पर भी उसकी पहचान सहज हो जाती है, ईश्वर का स्वरूप, उसकी कार्य पद्धति, सृष्टि का उद्भव, पूजा की विविधता, मरणोत्तर जीवन, कर्मफल, स्वर्ग नरक आदि विषयों में इन सबकी ऐसी मान्यताएं हैं जिन्हें परंपरागत मानकर श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाता है । अनुयायी उन्हें ब्रह्म वाक्य मानते हैं और उन निर्धारणों को अपनाना अपना धर्म कर्तव्य मानते हैं । श्रद्धा का अतिरेक उन मान्यताओं की उपयोगिता–यथार्थता के संबंध में किसी प्रकार का संदेह करने की गुंजाइश नहीं छोड़ता । ऐसी दशा में उन पर तर्क की कसौटी कैसे लगाई जाए ? मान्यता के पीछे तथ्य क्या है ? इसका प्रश्न कैसे उठाया जाए ? संदेह करने पर तो नास्तिकता का लांछन लगता है और ईश्वर के क्रुद्ध होने, नरक में धकेलने जैसा भय दिखाया जाता है ।

आश्चर्य यह है कि सभी संप्रदाय अपनी मान्यताओं को शत प्रतिशत सही मानते हैं । ऐसी दशा में अन्य मतावलम्बियों के मत सहज ही झूठे हो जाते हैं । सभी अपने कथन को सच और दूसरों को झूठा कहते हैं । यह सब इस तरह होता रहता है कि अपने अतिरिक्त और सभी को चोट लगे । यह विग्रह तभी से आरंभ हेा गया होगा जब से कि एकाधिक मतान्तरों का प्रचलन आरंभ हुआ । झूठों को परास्त करने के लिए शास्त्रार्थ भी होते रहे और जब तर्क का आश्रय कमजोर पड़ा तो प्रतिपक्षियों को नास्तिक ठहराया गया और उनके विरुद्ध जेहाद उठाया गया । मध्यकाल में यह विग्रह खूब हुए हैं और अभी उनका हल्का मंदा स्वरूप सांप्रदायिक दंगों के रूप में अक्सर दृष्टिगोचर होता रहता है ।

दो हजार संप्रदायों में से जब सभी अपनी पृथक मान्यताएं अपनाते हैं तो उनमें से किसे सही और किसे गलत माना जाए–यह किसी विवेकशील के लिए टेढ़ी समस्या है । ऐसा भी नहीं बन पड़ता कि सभी मतान्तरवादी अपने अपने प्रतिपादनों को समीक्षा करने के लिए किसी निष्पक्ष न्यायालय को सौंप दें और वह उनकी बातों में जितनी यथार्थता देखें उतना मान्य घोषित कर दे शेष के खण्डन किए जाने पर, उस पक्ष के अनुयायियों को बुरा लगता हो तो उन विषयों पर मौन धारण कर लिया जाए । ऐसा भी हो सकता है कि परस्पर मिलजुलकर अधिक उपयोगी विषयों को प्राथमिकता देते हुए उनका संग्रह करते हुए एक विश्व धर्म बना लिया जाए । दोनों में से एक भी बात न बन पड़ने पर अंतिम उपाय यह है कि मतवादी अपनी अपनी मान्यताओं को अपनाएं रहें, पर भिन्न मत रखने वालों पर अपनी अपनी मान्यता लादने के लिए दबाव न डालें । इस प्रकार सत्य का निर्णय भले ही न हो पर शांति तो बनी ही रह सकती है । इस हेतु ऐसा मानस बनाना पड़ेगा जैसा कि एक ही परिवार के लोगों को भिन्न प्रकार के कपड़े पहनने, भिन्न प्रकार के भोजन करने की छूट रहती है । सहिष्णुता और समझदारी का यही तकाजा है । ऐसे विग्रह खड़े करना जिनका पूर्वाग्रहों के रहते समाधान ही न हो सके, उछालना व्यर्थ है–जिस व्यर्थ विवाद में समय, चिंतन और सद्भाव का अपव्यय होता हो उससे बच निकलना ही बुद्धिमानी है । तथ्यों की शोध उसी मनःस्थिति में सम्भव हो सकती है जब सभी अपने प्रचलन में दीख

पड़ने वाली भूलों को मानने के लिए मन बना लें , पर यह सब भी वर्तमान परिस्थितियों में सम्भव नहीं दिखाई पड़ता है क्योकि जब सभी के प्रचलन उसके अपने ईश्वर के बनाये हुए हैं तो वह अमान्य कैसे ठहराये ? दूसरों के अभिप्राय तो दूसरे ईश्वरों के बनाये हुए हैं । मान्यता तो अपने ही ईश्वर को दी जा सकती है ,सभी को मान्यता दी जाए तो परस्पर विरोधी निर्धारणों के बीच तारतम्य कैसे बिठाया जाये ? इस असमंजस के चलते मुद्दतें हो गईं और आगे वह तब तक चलता रहेगा जब तक कि उनकी श्रेष्ठताओं का समन्वय करके एक गुलदस्ता न बनाया जाए अथवा सब मतान्तर मिटकर एक ही प्रतिपादन शेष रहे । मानवी विचार स्वतंत्रता को सार्वभौम मान्यता मिल जाने पर अब दोनों ही बातें संभव दिखाई नहीं पड़तीं । ऐसी दशा में यही शांति का मार्ग है कि जिनकी श्रद्धा जिस मान्यता को अपनाए रहने में हो वे उसे अपनाए रहें, पर दूसरों पर आरोप न करें । सांप्रदायिक दुर्भाव न फैलावें । अधिक से अधिक इतनी छूट रह सकती है कि अपने मत की विशेषताओं की जानकारी दूसरे उन लोगों को दी जाती रहे जो उसे सुनने के इच्छुक हों । खण्डन एवं आक्षेप की नीति तो छोड़ ही दी जाए, काम चलाऊ शांति तो इसी प्रकार होती है । सत्यान्वेषण का क्रम यदि सभी पक्षों में चलता रहे तो एक समय ऐसा भी आएगा जब अपने पराए का भेदभाव छोड़कर लोग विवेक एवं औचित्य को प्रश्रय देने लगेंगे और परिष्कृत तत्वदर्शन सामने आने का समय निकट आता चला जाएगा ।

अच्छा हो धर्म का तात्पर्य नीति, सदाचार, कर्तव्य, आदर्श की सीमा में सीमित करके देखा जाए, वह सार्वभौम धर्म हो सकता है । सज्जनता, संयमशीलता, उदारता, यथार्थता इस सार्वभौम धर्म के प्रमुख अंग हो सकते हैं, सद्भाव और सद्व्यवहार उसका क्रिया पक्ष प्रकट कर सकते हैं । धर्म का यह पक्ष शाश्वत भी है, वह मानवी गरिमा के आधार पर सार्वभौम है । मानवता के साथ उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समन्वय करने पर जितने भी नीति नियम बन सकते हों उन्हें इस धर्म विवेचना में सम्मिलित किया जा सकता है ।

विस्तार करने पर उनकी संख्या अधिक भी हो सकती है और सूत्रबद्ध कर देने पर उन्हें कम भी किया जा सकता है । सामान्य जानकारी की दृष्टि से इन्हें समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के चार रूपों में भी बांटा जा सकता है, उनमें धर्म तत्व का सार संक्षेप भली प्रकार आ जाता है । आवश्यकतानुसार इनकी विस्तृत विवेचना–व्याख्या भी की जा सकती है ।

धर्म के साथ प्रथा परंपराओं का, पूजा अर्चा का दार्शनिक मान्यताओं का भी एक पक्ष जुड़ता है । इनका प्रादुर्भाव तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप होता और समय बदल जाने पर उनमें परिवर्तन होता रहता है । पुराने समय में जब कपड़े की कमी थी तब लोग कटिवस्त्र और कंधे पर उत्तरीय ओढ़कर काम चला लेते थे । इसी से लज्जा ढंकने और सर्दी गर्मी के बचाव करने का काम चल जाता था । परिस्थिति बदली, वस्त्रों का बाहुल्य हुआ तो लोग तरह तरह की फैशन वाले, तरह तरह के वस्त्र सिलाने लगे । रात्रि को घरों में तेल के दीपक जलाते थे, अब बिजली का उत्पादन होने लगा तो हर घर में बिजली की बत्तियां पहुंचने लगी हैं । गर्मी के दिनों में हाथ का पंखा सहायता करता था, पर अब बिजली के पंखों का प्रचलन होता जा रहा है । व्यावहारिक जीवन की तरह दार्शनिक विषयों में भी हेर फेर हुआ है । अब दुनियां छोटी हो गई है, एक स्थान पर उद्भूत हुए विचार प्रेस के माध्यम से जल्दी ही दूर दूर तक पहुंच जाते हैं । लोगों की समीक्षा–बुद्धि जगी है और तुलनात्मक अध्ययन करने का मन बना है । इस कारण पुरातन मान्यताओं में बिना कोई बड़ा आंदोलन या विग्रह खड़े किए, परिवर्तन होते चल रहे हैं । सती प्रथा मिट गई, बाल विवाहों का प्रचलन घट गया । जाति पांति के आधार पर बरती जाने वाली ऊंच नीच और भेदभाव की परिपाटी में भी भारी परिवर्तन हुआ है । शादियों में होने वाली धूमधाम और लेन देन का रिवाज भी घट गया है । इसी प्रकार मृतक भोज, पर्दा प्रथा, भिक्षा व्यवसाय की प्रथाएं भी घटती और मिटती जा रही हैं, इनमें से जिन्हें अनुपयोगी समझा गया है उनकी ओर

से जनसाधारण का मुंह अनायास ही मुड़ता जा रहा है । कभी दास दासियों की हाट लगती थी—उन्हें खरीदा, बेचा जाता था, पर अब वैसा नहीं होता । राजतंत्र भी टूटते जा रहे हैं, उनके स्थान पर प्रजातंत्र बल पकड़ रहे हैं । यह वे परिवर्तन हैं जिन्हें विश्वदर्शन की तुलनात्मक विवेचना करने पर अधिक बुद्धिसंगत पाया और अपनाया गया है ।

यह परिवर्तन आगे भी होते रहेंगे । समय की आवश्यकता और सुविधा सरलता को देखकर लोग अपने विचार—व्यवहार में हेर फेर करते रहेंगे । मनुष्य की दूरदर्शिता तुलनात्मक समीक्षा जैसे जैसे बढ़ती जाएगी वैसे वैसे परिवर्तनों का सिलसिला तेज होता जाएगा । जो अनुपयोगी सिद्ध होगा वह उपेक्षा के गर्त में गिरता जाएगा, जो उपयोगी प्रतीत होगा उसे नया होने पर भी अपनाया जाता रहेगा । यह सुधार परिवर्तन समयानुसार भूतकाल में भी होता रहा है और वह उपक्रम भविष्य में भी चलता रहेगा । हमें इन परिवर्तनों के लिए अपने को तैयार रखना चाहिए । प्रगति नियति का क्रम है । सुधार और संस्थापन की उभयपक्षीय पद्धतियां अपनाते हुए ही हम इतने आगे बढ़ सके हैं, भविष्य में इस आधार अवलंबन को अपनाए रहकर ही तथ्यों के अधिक निकट पहुंचते रहेंगे ।

मनुष्य क्रमिक गति से ही आगे बढ़ा है, उसका व्यक्तित्व भी क्रमानुगत रूप से ही निखरा है । इस विकास परंपरा में गतिरोध उत्पन्न होने वाला नहीं है । सौर मण्डल किसी महासूर्य की परिक्रमा करता है और वह महासूर्य भी अपने अनेक संबद्ध सौर मण्डलों को साथ लेकर अतिसूर्य की परिक्रमा के लिए अग्रसर होता रहता है । आज हमारी पृथ्वी जहां है अंतरिक्ष के उस भाग में लौटकर शायद कहीं लाखों—करोड़ों वर्षों बाद आ पाएगी । कारण कि अनवरत प्रगति का क्रम हर पदार्थ को, हर प्राणी को आगे ही बढ़ाता है, उसकी परिस्थिति एवं मनःस्थिति क्रमशः बदलती ही रहती है, चेतना का स्वभाव ही अग्रगमन है ।

इन दिनों मत—मतांतरों के तत्वदर्शन में जो असाधारण भेदभाव दृष्टिगोचर होता है उससे परेशान होने की तनिक भी आवश्यकता

नहीं है । धैर्य बनाए रहने और विग्रह को टालते रहने की नीति अपनाए रहा जाए तो काम चल जाएगा । संकीर्ण विचारशीलता, भेदभावों के अवरोध समयानुसार सहज ही हटते चलेंगे । कभी पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचना असंभव जैसा था, पर अब जलयानों, वायुयानों ने उसे संभव बना दिया है । दार्शनिक क्षेत्र में जो विभेद–विलगाव और कट्टरता पिछले दिनों जितना था, उतना अब नहीं रहा, जितना अब है उतना अगले दिनों न रहेगा । मानवी चेतना एकता की ओर बढ़ रही है । मनुष्य की मूर्खता जैसे जैसे घटती जाएगी वैसे वैसे उसे एकता की, समता की सूझ सूझती रहेगी और राह मिलती रहेगी ।

समझदार इतना तो समझें ही

संसार को विज्ञान की आंखों से देखा जाए तो ब्रह्माण्ड भर में ताप प्रकाश और ध्वनि तरंगें भर दौड़ती दृष्टिगोचर होंगी । अणु परमाणु के अंधड़ चलते दृष्टिगोचर होगे । पदार्थों के बीच आकर्षण विकर्षण का क्रम चलता दीखेगा । जादू नगरी की तरह कोई बाजीगर यहां विचित्र खेल खिलवाड़ रचता और बिगाड़ता प्रतीत होगा–यही है संसार का वास्तविक रूप जो दीखता तो स्थिर है पर उसके अंतराल में भारी हलचलें चलती हुई समझी जा सकेंगी । पदार्थ अपने अपने प्रथक रूप में विद्यमान दीख पड़ते हैं, पर वे देर तक स्थिर नहीं रहते, उनमें तेजी से परिवर्तन होता रहता है और शरीर के भीतर जीवाणु जिस क्रम से चलते और कार्यरत रहते हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होता है । विश्व की समस्त संरचना आश्चर्यचकित करने वाली है, उसकी गतिशीलता सामान्य बुद्धि की समझ में नहीं आती–स्थिरता जैसी प्रतीत होती है, पर है वह कोरी भ्रांति ।

इस गतिशीलता को जीवन के साथ जोड़ा जाए तो हम यथार्थता के अधिक निकट पहुंचते हैं । शुक्राणु और डिम्ब के

सम्मिश्रण से बना बिन्दु कमल क्रमशः भ्रूण के रूप में विकसित होता है, गर्भ रूप में पकता है, पक कर संसार में आता है । शैशव बचपन के रूप में विकसित होते हुए किशोरावस्था और यौवन की वय आ पहुंचती है । यौवन जाता है वृद्धता आती है । शरीर निर्बल और जराजीर्ण हो जाता है और काया मृत्यु के मुंह में चली जाती है । दृश्य अदृश्य बनता है और फिर नए जन्म के लिए जिस तिस दिशा में भटकता है । फिर वही क्रम, फिर वही गति, फिर वही नियति । हम परिवर्तन चक्र में परिभ्रमण करते हैं, जो दिन बीत जाता है फिर लौटकर नहीं आता । जन्म से आरंभ होकर मरण तक पहुंचने वाली यात्रा निरंतर चलती रहती है । फिर भी आश्चर्य यह है कि मनुष्य अपने को स्थिर ही मानता है । परिवर्तन और विघटन पर ध्यान नहीं देता, वर्तमान में ही उलझा रहता है । भविष्य की बात सोचता तक नहीं–इस भ्रांति का दुष्परिणाम तब सामने आता है जब समय बीत चुका होता है और पछताने के सिवाय और कुछ शेष नहीं रहता ।

वर्तमान को सब कुछ और चिरस्थाई मान बैठने की भ्रांति ऐसी है जिसे समझदार भी नासमझों की तरह ही अपनाए रहते हैं । समय बदलने के साथ परिस्थितियां बदलती रहती हैं । शैशव की स्थिति बड़े बच्चों में नहीं रहती, बचपना जवानी आते ही विदा होता है, बुढ़ापे में जवानी का भी कोई चिह्न नहीं बचता । इस पर भी मनुष्य है जो समझदारी के दिनों में भी तेजी से चल रहे परिवर्तन पर ध्यान नहीं देता और स्थिति के अनुरूप जो सोचा जाना चाहिए उसे नहीं सोचता, जो करना चाहिए उसे नहीं करता ।

दृष्टि भविष्य पर रहनी चाहिए, उसके साथ तालमेल बिठाते हुए वर्तमान की रूपरेखा विनिर्मित करनी चाहिए । बच्चे सयाने होने पर अभिभावक उनकी शिक्षा, शादी, आजीविका के बारे में गहराई से सोचते हैं और उसकी व्यवस्था बनाने के लिए आवश्यक भागदौड़ करते हैं । वर्षा आने से पूर्व खेत की मेंड़ ठीक की जाती है और

छप्परों की मरम्मत के लिए आवश्यक प्रबंध कर लिया जाता है । जाड़े के कपड़े सिलाए जाते हैं और गर्मी आने से पूर्व उसके अनुरूप व्यवस्था बदल ली जाती है, पर जीवन में चलते परिवर्तन को देखते हुए भविष्य को सही बनाए रहने के लिए क्या पूर्व तैयारी करनी चाहिए–इस पर ध्यान नहीं दिया जाता । इस वैचारिक जड़ता को नहीं रहने देना चाहिए । ऐसी भूल तो किसान भी नहीं करता, वह बीज बोने के उपरांत उसमें खाद पानी देने, रखवाली करने की तत्परता बरतता है । यदि न करे तो उसे फसल काटने को न मिलेगी । बोया हुआ बीज भी व्यर्थ चला जाएगा ।

मनुष्य जन्म सुरदुर्लभ उपहार है, भगवान की यह सर्वोपरि कलाकृति है । अन्य प्राणियों को यह सुविधा सरंजाम नहीं दिया गया । मात्र मनुष्य को ही इसलिए सौंपा गया है कि वह उसका जिम्मेदारी, समझदारी से इस स्तर का सदुपयोग करेगा जिससे वह अपनी अपूर्णता को पूर्णता में बदल सके । सृष्टा विश्व उद्यान को अधिकाधिक सुरम्य बनाने में अपने कौशल का प्रदर्शन कर सके । यही है वह दूरदर्शिता, विवेकशीलता जिसका सत्परिणाम स्वर्ग स्तर के सुखी जीवन और मुक्ति स्तर के दृष्टिकोण के रूप में प्राप्त किया जा सकता है ।

पर यह सब बन पड़े तब जब वर्तमान की महत्ता और भविष्य की संभावना को ध्यान में रखते हुए निर्धारण किया जाए और कार्यक्रम बनाया जाए । यह बन तभी सकता है जब विश्व व्यवस्था के साथ जीवनक्रम की बदलती परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाए, साथ ही उज्ज्वल भविष्य के निर्धारण में भी चूक न की जाए । तत्वदर्शियों ने आश्रम धर्म का चार भागों में विभाजन इसीलिए किया है कि जीवन के चार मोड़, द्वार, चौराहे अपनी अपनी दिशा का संकेत और प्रयत्न की प्रेरणा देते रहें ।

बचपन में युवावस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर शरीर को स्वस्थ और मस्तिष्क को विकसित–प्रशिक्षित बनाने के लिए उस स्थिति के अनुरूप जुटे रहना पड़ता है । जिनका बचपन

सही मार्ग अपनाए रह सका समझना चाहिए कि उसका यौवन समर्थ और सुव्यवस्थित हो गया । जिसने यौवन में पारिवारिक जिम्मेदारियों को हलका करते रहने का, अर्थ व्यवस्था को जीवन के अंतिम दिनों तक काम देने योग्य बना लिया, समझना चाहिए कि विवेक से काम लिया । संयम साधना का भी यही समय है । जिस प्रकार बचपन में व्यायाम और अध्ययन में रुचि ली जाती है उसी प्रकार यौवन में संयम और पुरुषार्थ का निर्वाह पूरी तरह किया जाना चाहिए अन्यथा ढलती आयु खोखलेपन के कारण कष्टदायक भी होगी । वानप्रस्थ की ढलती प्रौढ़ावस्था का सदुपयोग इसी में है कि जिस जीवन निर्वाह में असंख्यों का असंख्य प्रकार से सहयोग मिला है । उसका ऋण चुकाने के लिए लोकसेवा प्रयोजनों में, सत्प्रवृत्ति संवर्धन में प्राणपण से जुटा जाए । इस अवधि में परिवार के लोगों को स्वावलंबी और सुसंस्कारी बनाने का क्रम लगभग पूरा हो जाता है, इसलिए पूरा या अधूरा यह समय लोकमंगल के लिए ही समर्पित किया जाना चाहिए । चौथी अवस्था संन्यास की निर्धारित है, अब समय के अनुसार उसे वानप्रस्थ से ही जोड़ देना चाहिए । आयुष्य का पूर्वार्ध भौतिक प्रयोजनों के लिए और उत्तरार्ध परमार्थ कार्यों के लिए सुनिश्चित रखना चाहिए । यह आश्रम व्यवस्था व्यक्तित्व के विकास और समाज के अभ्युदय का प्रयोजन पूरा करने के लिए सब प्रकार श्रेयष्कर है ।

पर यह निर्धारण कार्यान्वित नहीं हो पाता, लोग आदि से अंत तक गृहस्थ ही बने रहते हैं । दूरगामी सत्परिणाम उत्पन्न करने वाले आदर्शों को अपनाने की अपेक्षा समूची आयु प्रायः स्वार्थ साधनों में ही निकल जाती है । लोभ, मोह और अहंकार के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । वासना, तृष्णा की खाई पाटने का प्रयत्न किया जाता है, पर वह इतनी गहरी है कि सब कुछ खपा देने पर भी उसे पूरा करने की संभावना बन नहीं पाती, तथ्यों को विस्मृत कर देने का ही यह परिणाम है ।

वर्तमान वस्तुतः भूत और भविष्य के मध्यवर्ती कुछ क्षण हैं, जिन्हें दौड़ते हुए समय के साथ जोड़ा जा सकता है । यह वर्तमान ही सौभाग्य की चमकती हुई बिजली है जिसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करने में चूका नहीं जाना चाहिए । आलस्य और प्रमाद रूपी दो दानव नष्ट करते रहते हैं, इस आक्रमण को सुयोग से बचाया जाना चाहिए और वह किया जाना चाहिए जिससे भविष्य बनता है, वह सोचना चाहिए जिससे अगले दिनों के लिए अभ्युदय की स्थिति बनती हो ।

जन्म से पूर्व और मृत्यु के उपरांत की स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए । चौरासी लाख क्षुद्र योनियों के भ्रमण करने के उपरांत यह जन्म मिला है उसकी अवधि भी स्वल्प है । पूरी आयु तो आधे लोग भी नहीं जी पाते, शेष आधे तो अल्पायु में ही अकाल मृत्यु के ग्रास बनते देखे गए हैं । कौन जाने किसके साथ क्या बीते ? समय तेजी से आगे खिसकता जाता है और यात्रा मृत्यु की मंजिल पूरी करने के लिए द्रुतगति से आगे बढ़ती रहती है । जो काम का समय है वह आज का ही है । कल कोई ऐसी भी स्थिति आ सकती है जिसमें समय तक चलने वाली रुग्णता या अपंगता घेर ले । ऐसी दशा में स्वयं कुछ कर सकना तो दूर यह भी हो सकता है कि परावलंबी, तिरस्कृत, उपेक्षित बनकर रहना पड़े इन आशंकाओं को भुला नहीं देना चाहिए, सतर्कता इस तथ्य पर केन्द्रित करनी चाहिए कि भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाले प्रयासों में शिथिलता न आने पावे । सतर्कता में इतनी कमी न आने पावे जिसके कारण कुछ सूझ ही न पड़े–कुछ करते धरते ही न बन पड़े ।

स्वार्थ वह नहीं है जिसकी परिणति अनर्थ में होती है, वास्तविक आवश्यकताएं स्वल्प हैं, शरीर का निर्वाह औसत नागरिक स्तर अपनाकर भी भली भांति किया जा सकता है । महत्वाकांक्षाओं का दमन किया जा सकता है और संयम के साथ सादगी से जिया जा सकता है । यह रीति अपनाने पर परमार्थ के लिए अवसर अवकाश

मिल सकता है जो संतोष, सम्मान, सहयोग और प्रतिष्ठा, प्रशंसा का कारण बम सकता है । यह लौकिक लाभ हुए । परमार्थ के साथ लोक और परलोक का उज्ज्वल भविष्य भी जुड़ता है, पारमार्थिक जीवन के लिए विपुल संसाधनों की आवश्यकता नहीं है । उनके अभाव में भी बहुत कुछ हो सकता है । श्रम, समय और पूंजी भी कम महत्व की नहीं है । आत्मीयता, उदारता, नम्रता, सज्जनता और सेवा साधना अपनाकर भी अपना स्वभाव देवोपम बनाया जा सकता है । सामान्य लोक व्यवहार के साथ सेवा–सहायता का पुट लगाए रहा जा सकता है । इतने भर से परमार्थ सध जाता है, सामान्य क्रिया कलाप में भी आदर्श जुड़ा रह सकता है ।

आवश्यक नहीं कि कोई स्मारक खड़ा करके ही अपना यश चिरस्थायी बनाया जाए । यह भी हो सकता है कि जीवन इस तरह जिया जाए जिससे दूसरे लोग उत्कृष्टता अपनाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें । कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर चलें, यह परोक्ष अनुदान भी ऐसा है जिसके बदले व्यक्ति विशेष की ही नहीं समूचे समाज की अंतरात्मा कृतज्ञ बन सकती है । विनम्र एवं उदार व्यवहार से दूसरों का मन जीता जा सकता है, सज्जनता की प्रतिक्रिया सज्जनता के रूप में ही होती है । इस परंपरा को चलाना और बढ़ाना ऐसा कृत्य है जिसमें सर्वतोमुखी श्रेय संपादन होता है, अपना नहीं दूसरों का भविष्य उज्ज्वल बनता है ।

शालीनता अंतरात्मा के गहन स्तर तक में प्रवेश कर जाती है और वह जन्म जन्मांतरों तक साथ जाती है । पुण्यात्मा का भविष्य अंधकारमय नहीं बन सकता, उसे दुर्गति वाली परिस्थितियों में नहीं गिरना पड़ता । मनुष्य जीवन की सार्थकता ऐसी विद्या अपनाने में ही है । आवश्यक नहीं कि उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए बहुत बड़े जप तप किए जाएं । सज्जनता भर। जीवनयापन कर सकना भी एक योग साधन है जो सबके लिए सरल भी है और सुलभ भी ।

भूलों में सबसे भयंकर भूल यह है कि आत्म सत्ता के अस्तित्व

एवं हित अनहित को भुला दिया जाए । शरीर की वासना–तृष्णाओं को सब कुछ मानकर उनके लिए मरते खपते रहा जाए । जीवन का महत्व और उद्देश्य न समझा जाए, मृत्यु को भुलाकर अपनी सुविधा भरी स्थिति को चिरस्थाई मानकर उन बचकानी बाल क्रीड़ाओं में समय गंवाया जाए जिनमें मनोरंजन और कालक्षेम के अतिरिक्त और कोई महत्व नहीं है । अच्छा हो कि समय रहते वस्तुस्थिति को समझा जाए और भविष्य को शानदार बना सकने वाले उपक्रम को अपनाया जाए ।

यहां सब कुछ सचल है, अचल केवल पुण्य परमार्थ ही है । उसी को समझा और पकड़ा जाए तो वह स्थिति बन सकती है जिससे अपनी नाव पार लगे और दूसरों को उसका आश्रय लेकर पार होने का अवसर मिले ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा